

श्रीमद् भगवद्गीता

हिन्दी अनुवाद
सहित मूलपाठ

युद्धभूमि कुरुक्षेत्र में भगवान् श्री कृष्ण ने अर्जुन को जो उपदेश दिया था वह 'गीता' के नाम से विश्व-विख्यात है ।

'गीता' वेदशास्त्र और उपनिषदों का सार है इसलिए हिन्दु-धर्म के श्रद्धेय ग्रन्थों में इसका विशेष महत्त्व है ।

संस्कृत मूल पाठ के साथ सरल सुबोध अनुवाद भी प्रस्तुत किया जा रहा है ।



श्रीमद् भागवद्गीता

श्रीमद्भगवद्गीता

प्रथम अध्यायः अर्जुन विषाद योग

धृतराष्ट्र उवाच ।

धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः ।

मामकाः पांडवाश्चैव किमकुर्वत संजय ॥१॥

धृतराष्ट्र बोला—हे संजय, धर्मभूमि कुरुक्षेत्र में युद्ध की
इच्छा से इकट्ठे हुए मेरे और पाण्डु के पुत्रों ने क्या
क्रिया ? ॥१॥

संजय उवाच ।

दृष्ट्वा तु पांडवानीकं व्यूढं दुर्योधनस्तदा ।

आचार्यमुपसंगम्य राजा वचनमब्रवीत् ॥२॥

संजय बोला—दुर्योधन ने व्यूह में खड़ी हुई पाण्डवों की
सेना को देख द्रोणाचार्य के पास जाकर यह कहा ॥२॥

पश्यैतां पांडुपुत्राणामाचार्य महतीं चमूम् ।

व्यूढां द्रुपदपुत्रेण तव शिष्येण धीमता ॥३॥

हे Dharma by eGangotri and Sarayu Trust. पुत्र, तुम्हारे बुद्धिमान् शिष्य
घृष्टद्युम्न की व्यूह-रचना से खड़ी हुई पाण्डवों की इस
सेना को देखो ॥३॥

अत्र शूरा महेष्वासा भीमार्जुनसमा युधि ।

युधामन्यु विराटश्च द्रुपदश्च महारथः ॥४॥

घृष्टकेतुश्चेकितानः काशिराजश्च वीर्यवान् ।

पुरुजित्कुन्तिभोजश्च शैब्यश्च नरपुङ्गवः ॥५॥

युधामन्युश्च विक्रांत उत्तमौजाश्च वीर्यवान् ।

सौभद्रो द्रौपदेयाश्च सर्व एव महारथाः ॥६॥

इसमें शूर, धनुर्वर, भीम तथा अर्जुन के तुल्य योद्धा
सात्यकि, विराट, महारथी द्रुपद, घृष्टकेतु, चेकितान,
बलवान् काशिराज, पुरुजित्, कुन्तिभोज, नरश्रेष्ठ शैब्य,
वीर युधामन्यु, बलवान् उत्तमौजाः अभिमन्यु और द्रौपदी
के पुत्र, ये सब महारथी हैं ॥४॥५॥६॥

अस्माकं तु विशिष्टा ये तान्निबोध द्विजोत्तम ।

नायका मम सैन्यस्य संज्ञार्थं तान्ब्रवीमि ते ॥७॥

हे ब्राह्मणश्रेष्ठ, अपनी श्रेष्ठ सेना-नायकों के नाम ये
हैं ॥७॥

अश्वत्थामा विकर्णश्च सोमदत्तिस्तथैव च ॥ १॥

उनमें आप और भीष्मपितामह, कर्ण, संग्रामजित्
कृपाचार्य, अश्वत्थामा, विकर्ण और सोमदत्त का पुत्र
भूरिश्रवा है ॥८॥

अन्ये च बहवः शूरा मदर्थे त्यक्तजीविताः ।

नानाशस्त्रप्रहरणाः सर्वे युद्धविशारदाः ॥९॥

इनके सिवाय और भी बहुत से वीर, मेरे लिए प्राणों
की ममता का त्याग किए नाना प्रकार के शस्त्रों से प्रहार
करने वाले तथा युद्ध में बड़े प्रवीण हैं ॥९॥

अपर्याप्तं तदस्माकं बलं भीष्माभिरक्षितम् ।

पर्याप्तं त्विदमेतेषां बलं भीमाभिरक्षितम् ॥१०॥

हे महानुभाव, भीष्मपितामह से भलीभांति रक्षाप्राप्त
हमारी सेना विशाल है । भीमसेन से रक्षित पाण्डवों की
सेना छोटी है ॥१०॥

अयनेषु च सर्वेषु यथाभागमवस्थिताः ।

भीष्ममेवाभिरक्षन्तु भवन्तः सर्व एव हि ॥११॥

अब आप सब वीरजन व्यूहों के मार्गों पर स्थित
होकर भीष्म की रक्षा करें ॥११॥

सिंहनादं विनद्योच्चैः शङ्खं दध्मौ प्रतापवान् ॥१२॥

दुर्योधन को हर्षित करते हुए भीष्मपितामह ने सिंह-
समान गर्जनयुक्त, शङ्ख बजाया ॥१२॥

ततः शङ्खाश्च भेर्यश्च पणवानकगोमुखाः ।

सहस्रैवाम्यहन्यन्त स शब्दस्तुमुलोऽभवत् ॥१३॥

तत्पश्चात् (उस सेना में) शीघ्र ही शङ्ख, भेरी, ढोल,
मृदंग और गोमुख बाजे बजे; जिनसे भारी शब्द
हुआ ॥१३॥

ततः श्वेतैर्हयैर्युक्ते महति स्यन्दने स्थितौ ।

माधवः पाण्डवश्चैव दिव्यौ शंखौ प्रदध्मतुः ॥१४॥

तदनन्तर, श्वेतवर्ण के घोड़ों से जुड़े हुए उत्तम रथ में
स्थित श्रीकृष्ण और अर्जुन ने अपना-अपना दिव्य शङ्ख
बजाया ॥१४॥

पाञ्चजन्यं हृषीकेशो देवदत्तं धनंजयः ।

पौंड्रं दध्मौ महाशङ्खं भीमकर्मा वृकोदरः ॥१५॥

अनन्तविजयं राजा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ।

नकुलः सहदेवश्च सुघोषमणिपुष्पको ॥१६॥

श्रीकृष्ण ने पाञ्चजन्य, अर्जुन ने देवदत्त, भीमसेन ने पौण्ड्रनामक बड़े भारी शङ्ख को, कुन्ती-पुत्र युधिष्ठिर ने अनन्त-विजय, नकुल ने सुघोष और सहदेव ने मणिपुष्पक नामक शङ्ख को बजाया ॥१५॥१६॥

काश्यश्च परमेष्वासः शिखण्डी च महारथः ।

घृष्टद्युम्नो विराटश्च सात्यकिश्चापराजितः ॥१७॥

द्रुपदो द्रोपदेयाश्च सर्वशः पृथिवीपते ।

सौभद्रश्च महाबाहुः शङ्खान्दध्मुः पृथक्पृथक् ॥१८॥

हे राजन्, घनुर्धर काशीराज, महारथी शिखण्डी, घृष्टद्युम्न, विराट और अपराजित सात्यकि, द्रुपद, द्रोपदी के पुत्र और सुभद्रा के लड़के महाबाहु अभिमन्यु ने अपने-अपने शङ्खों को बजाया ॥१७॥१८॥

स घोषो धार्तराष्ट्राणां हृदयानि व्यदारयत् ।

नभश्च पृथिवीं चैव तुमुलो व्यनुनादयन् ॥१९॥

(नाना वाद्यों और सिहनादों से उत्पन्न) वह शब्द आकाश तथा भूमि को प्रतिध्वनित करता हुआ कोरवों के हृदय को विदीर्ण करने लगा ॥१९॥

धार्तराष्ट्रस्य दृष्ट्वा धातराष्ट्रान्कपिष्वजः ।

प्रवृत्ते शस्त्रसंपाते धनुर्ह्यस्य पाण्डवः ॥२०॥

हृषीकेशं तदा वाक्यमिदमाह महीपते ।

अर्जुन उवाच

सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत ॥२१॥

यावदेतान्निरीक्षेऽहं योद्धुकामानवस्थितान् ।

कर्मया सह योद्धव्यमस्मिन्नणसमुद्यमे ॥२२॥

तत्पश्चात् हे राजन्, युद्ध करने के लिए संनद्ध कौरवों को देख अर्जुन धनुष उठाकर श्रीकृष्ण से यह बोले हे कृष्ण, आप दोनों सेनाओं के बीच मेरे रथ को खड़ा करो; मैं युद्ध के निमित्त आये हुए इन शत्रुओं को देखूँ कि इस संग्राम में किनके साथ मुझको युद्ध करना है ।

॥२०॥२१॥२२॥

योत्स्यमानानवेक्षेऽहं य एतेऽत्र समागताः ।

धार्तराष्ट्रस्य दुर्बुद्धेर्युद्धे प्रियचिकीर्षवः ॥२३॥

और दुर्बुद्धि दुर्घोषित के प्रिय कार्य करने की इच्छा से यहाँ जो युद्ध करने आये हैं उनको देखूँ ॥२३॥

एवमुक्तो हृषीकेशो गुडाकेशेन भारत ।
 सेनयोश्चभयोर्मध्ये स्थापयित्वा रथोत्तमम् ॥२४॥
 भीष्मद्रोणप्रमुखतः सर्वेषां च महीक्षिताम् ।
 उवाच पार्थ पश्यैतान्समवेतान्कुरुनिति ॥२५॥

संजय बोला—हे धृतराष्ट्र, अर्जुन के इन वचनों को सुन-
 कर श्रीकृष्ण ने दोनों सेनाओं के मध्य में रथ खड़ा करके
 भीष्मपितामह, द्रोणाचार्य और राजाओं के सामने कहा
 कि हे अर्जुन, तू इन सब इकट्ठे हुए कौरवों को देख ।
 ॥२४॥२५

तत्रापश्यत्स्थितान्पार्थः पितृनथ पितामहान् ।
 आचार्यान्मातुलान्भ्रातॄन् पुत्रान्पौत्रान्सखींस्तथा ॥२६॥
 श्वशुरान्सुहृदश्चैव सेनयोश्चभयोरपि ।
 तान्समीक्ष्य स कौंतेयः सर्वान्विधून्वस्थितान्
 कृपया परयाविष्टो विषीदन्निदमब्रवीत् ॥२७॥

अर्जुन उवाच

दृष्ट्वेमं स्वजनं कृष्ण युयुत्सुं समुपस्थितम् ॥२८॥
 सीदंति मम गात्राणि मुखं च परिशुष्यति ।

वधुस्य शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते ॥२९॥

पाण्डीयं स्रंसते हस्तास्वल्गं च परिवह्यते ।

न च शक्नोम्यवस्थातुं भ्रमतीव च मे मनः ॥३०॥

वहाँ अर्जुन ने दोनों सेनाओं के बीच खड़े हुए, पितामह गुरु, माना भाई, पुत्र, पौत्र, मित्र, स्वशूर और सखा, इन सब बन्धुओं को देख अत्यधिक स्नेह के कारण दुःखी होकर कहा—हे कृष्ण, युद्ध करने की इच्छासे आये हुए इन बन्धुओं को देखकर मेरे अङ्ग गिरे से पड़ते हैं, और मुझ सूखा जाता है, शरीर कांपता है और रोमाञ्च होता है, हाथ से गाण्डीव धनुष गिरा पड़ता है, सारे शरीरकी त्वचा जल रही है और मैं इसमें स्थित होने में समर्थ नहीं हूँ, मेरा मन भ्रान्त हो रहा है ॥२९॥३०॥२९॥३०॥

निमित्तानि च पश्यामि विपरीतानि केशव ।

न च धियोऽनुपश्यामि हस्ता स्वजनमाहवे ॥३१॥

हे कृष्ण, मुझे विपरीत सज्जन दीक्षते हैं और निज बन्धुओं को संग्राम में मार के अन्ध फल नहीं देखता हूँ ॥३१॥

किं नो राज्येन गोविन्द किं भोगैर्जीवितेन वा ॥३२॥

हे कृष्ण मुझे विजय, राज्य और सुख नहीं चाहिए । हे गोविन्द, हमें ऐसे राज्य, भोग और जीवन से क्या करना है ॥३२॥

येषामर्थे काक्षितं नो राज्यं भोगाः सुखानि च ।

त इमेऽवस्थिता युद्धे प्राणांस्त्यक्त्वा धनानि च ॥३३॥

जिन बन्धुओं के लिए राज्य, भोग और सुख की कामना की जाती है, वे सब प्राण और धन की बाजी लगाकर युद्ध करने को लड़े हैं ॥३३॥

प्राचार्याः पितरः पुत्रास्तथैव च पितामहाः ।

मातुलाः श्वशुराः पौत्राः श्यालाः संबन्धिनस्तथा ॥३४॥

एतान्न हंतुमिच्छामि छनतोऽपि मयुसूदन ।

आपं प्रेक्षोष्यराज्यं हेतोः किं नु महीकृते ॥३५॥

बुढ़, पिता, पुत्र, पितामह, मातुल, श्वशुर, पौत्र, शाले वीर नातेदार, ये सब मुझे मारें तो भी मैं प्रेक्षोष्य के राज्य के लिए भी इनको मारने की इच्छा नहीं करता हूँ, फिर केवल भूमि के लिए कहना ही क्या है ॥३४॥
॥३५॥

गतिः धर्ताराष्ट्रान्निः का प्रीतिः स्याज्जनार्दन ।

पापमेवाश्रयेदस्मान् हृत्वंतानाततायिनः ॥३६॥

तस्मान्नार्हा वयं हंतुं धर्ताराष्ट्रान्स्वबांधवान् ।

स्वजनं हि कथं हत्वा सुखिनः स्याम माधव ॥३७॥

हे जनार्दन, धृतराष्ट्र के पुत्रों को मार के हमको क्या प्रीति होगी ? वय करने के उचित इन जनों को मार कर हमें पाप ही लगेगा । इस कारण अपने बन्धु धृतराष्ट्र-पुत्रों को मारने के हम योग्य नहीं है । हे माधव, बंधुजनों को मार के हम कैसे सुखी होंगे ? ॥३६॥३७॥

यद्यप्येते न पश्यन्ति लोभोपहतचेतसः ।

कुलक्षयकृतं दोषं मित्रद्रोहे च पातकम् ॥३८॥

कथं न ज्ञेयमस्माभिः पापादस्मान्निवर्तितुम् ।

कुलक्षयकृतं दोषं प्रपश्यन्निर्जनादर्दन ॥३९॥

यद्यपि लोभ से इनकी बुद्धि नष्ट हो गई है और कुल का नाश तथा इसके दोष का इनको ज्ञान नहीं है कि मित्र-द्रोह करने से क्या पाप होता है; तो भी हे जनार्दन, कुलक्षय से उत्पन्न हुए दोषों को जानने वाले हमको इस पातक से निवृत्त कैसे नहीं होना चाहिए ? ॥३८॥३९॥

कुलक्षये प्रणश्यात् कुलधर्मोऽसनात्सि।

धर्मे नष्टे कुलं कृत्स्नमधर्मोऽभिभवत्युत ॥४०॥

कुलक्षय से कुलधर्म नष्ट हो जाते हैं, और धर्म के नष्ट हो जाने से सारे कुल को अधर्म दवा लेता है ॥४०॥

अधर्माभिभवात्कृष्ण प्रदुष्यन्ति कुलस्त्रियः ।

स्त्रीषु कुण्डासु वाष्ण्यं जायते वर्णसंकरः ॥४१॥

हे यादव कृष्ण, अधर्म की प्रबलता होने से कुल-स्त्रियाँ व्यभिचािणी हो जाती हैं, और उनके व्यभिचार से वर्ण-संकर होता है ॥४१॥

संकरो नरकायैव कुलघ्नानां कुलस्य च ।

पतन्ति पितरो ह्येषां लुप्तपिण्डोदकक्रियाः ॥४२॥

जिन पुरुषों ने कुल का नाश किया है उनको वह वर्ण-संकर उस कुल को नरक में पहुँचाता है, क्योंकि पिण्ड-दान और तर्पण के लुप्त हो जाने से उनके पितर नरक में पड़ते हैं ॥४२॥

दोषरेतः कुलघ्नानां वर्णसंकरकारकैः ।

उत्साद्यन्ते जातिधर्माः कुलधर्माश्च शाश्वताः ॥४३॥

कुलनाश करने वालों के इन वर्ण-संकर उत्पादक दोषों से पनातन के जातिधर्म और कुलधर्म नष्ट होते हैं ॥४३॥

नरके नियतं वासो भवतीत्यनुशुभम् ॥४४॥
हे जनार्दन, जिनके कुलधर्म नष्ट हुए हैं ऐसे मनुष्यों का
नरक में निश्चय निवास होता है, यह हमने सुना है
॥४५॥

अहो वत महत्पापं कर्तुं व्यवसिता वयम् ।
यद्वा सुखलोभेन हंतुं स्वत्रनमुद्यताः ॥४५॥
हा ! बड़े खेद की बात है कि राज्य सुख के लोभ से
हम अपने बान्धवों को मारने को उद्यत हुए हैं, हम इतना
बड़ा पाप करने में प्रवृत्त हुए हैं ॥४६॥
यदि मामप्रतीकारमशस्त्रं शस्त्रपाणयः ।

घातं राष्ट्रा रणे हन्युस्तन्मे क्षेमतरं भवेत् ॥४६॥
यदि चुपचाप बैठे हुए मुझ निरस्त्र को शस्त्रधारी वृत्त-
राष्ट्र के पुत्र संग्राम में मारें, तो मेरा बड़ा कल्याण हो
॥४६॥

एवमुक्त्वार्जुनः संख्ये रथोपस्थ उपाविशत् ।

विसृज्य सशरं चापं शोकसंविग्नमानसः ॥४७॥

संजय बोला—युद्धभूमि में श्रीकृष्ण को यह कहकर

शोक से व्याकुल अर्जुन ने श्रीकृष्ण का त्यागकर रथ के पिछले भाग में बैठ गया ॥४७॥

दूसरा अध्यायः सांख्य-योग

संजय उवाच

तं तथा कृपयाविष्टमधु-पूर्णाकुलेक्षणम् ।

विषीदंतमिदं वाक्यमुवाच मधुसूदनः ॥१॥

संजय बोला कि इस भाँति करुणा से युक्त और आँसुओं से पूर्ण, शोक से विवश, मोह में व्याप्त नेत्रों वाले व्याकुल अर्जुन को मधुसूदन ने यह वचन कहा ॥१॥

श्रीभगवानुवाच ।

कुतस्त्वा कदमलमिदं विषमे समुपस्थितम् ।

अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन ॥२॥

श्री भगवान् बोले—हे अर्जुन, इस अवसर में नीच जनों से सेवित, स्वर्ग प्राप्ति को रोकने वाला और अपकीर्ति को देने वाला यह अज्ञान तुझे कहाँ से प्राप्त हुआ ॥२॥

क्लृब्धं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते ॥

क्षुद्रं हृदयदीर्घल्यं त्यक्तवोत्तिष्ठ परंतप ॥३॥

हे पार्थ, तू कातर मत बन, यह कायरपन तुझे शोभित

नहीं होता है; हे शत्रुओं को संताप देने वाले, भीरुता को छोड़कर युद्ध करने के लिए उठ ॥३॥

अर्जुन उवाच

कथं भीष्ममहं संख्ये द्रोणं च मधुसूदन ।

इषुभिः प्रतियोत्स्यामि पूजार्हावरिसूदन ॥४॥

अर्जुन बोला—हे मधुसूदन, हे शत्रुओं को मारने वाले, पूजा करने के योग्य भीष्म पितामह और द्रोणाचार्य के साथ मैं संग्राम में बाणों से कैसे युद्ध करूँगा ? ॥४॥

गुरुनहत्वा हि महानुभावान्

श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके ।

हत्वर्थकामास्तु गुरुनिहैव

भुंजीव भोगान् रुधिरप्रदिग्धान् ॥५॥

महात्मा द्रोण, भीष्म आदि जो गुरु हैं उनको न मार के भीख मांगकर पेट भरना उचित है; परन्तु कीरवों की संपत्ति में बँधे हुए गुरुद्वन्द्वों का वध करके रुधिर से सने राजभोगों को संसार में कैसे भोगूँ ? ॥५॥

न चैतद्विद्वमः कतरन्नो गरीयो

सह्य जयेम यदि वा नो जयेयुः ।

यानेव हत्वा न जिजीविषाम—

स्तेऽवस्थिताः प्रमुखे धार्तराष्ट्राः ॥६॥

इन दुर्योधन आदि को जीतें, अथवा ये हमको जीतें,
दोनों पक्षों में कौन-सा श्रेष्ठ है, यह हम नहीं जानते,
को मार के जीने की इच्छा नहीं करते हैं, वे ये ही
राष्ट्र के पुत्र सामने खड़े हुए हैं ॥६॥

कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः

पृच्छामि त्वां धर्मसंमूढचेताः ।

यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे

शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम् ॥७॥

दशा में प्राप्त होने से मेरा क्षत्रियस्वभाव नष्ट हो
गया है और मेरा वया धर्म है, इस विषय में मेरा बड़ा
दुःख है, वह मुझको कहो, मैं आपका शिष्य हूँ,
आगत हूँ, मुझे शिक्षा दो ॥७॥

न हि प्रपश्यामि ममापनुद्या

यच्छोकमुच्छोषणमिन्द्रियाणाम् ।

अवाप्य भूमावसपत्नमृद्धं

राख्यं सुराणासपि चाधिपत्यम् ॥८॥

इस भूमि पर निष्कण्टक श्री संपन्न राज्य तथा स्वयं
का अधिकार भी मिले तो भी मैं ऐसा उपाय नहीं देखता
हूँ कि जो इन्द्रियों के जलाने वाले मेरे शोक को दूर
करे ॥८॥

संजय उवाच ।

एवमुक्त्वा हृषीकेशः गुडाकेशः परंतपः ।

न योत्स्य इति गोविन्दमुक्त्वा तूष्णीं बभूव ह ॥९॥

संजय बोला—शत्रुओं को संताप देनेवाला अर्जुन इस माँ
श्रीकृष्ण को कह के फिर बोला कि “मैं युद्ध नहीं करूँगा”
इतना कहके चुप हो गया ॥९॥

तमुवाच हृषीकेशः प्रहसन्मिव भारत ।

सेनयोरुभयोर्मध्ये विषीदन्तमिदं वचः ॥१०॥

हे धृतराष्ट्र, दोनों सेनाओं के बीच मैं विषाद की प्राप्ति
अर्जुन की, इन्द्रियों की प्रेरणा देने वाले श्रीकृष्ण हँसते हुए
यह वचन बोले ॥१०॥

श्रीभगवानुवाच ।

अक्षोऽप्यानन्वक्षोऽहस्त्वं प्रज्ञावादीश्च भाषसे ।

गतासुमगतासुं दृष्ट्वा मामुक्षोऽक्षिति पण्डिताः ॥११॥

भीमगवान् बोले—ओ शोक करने के योग्य नहीं ! उन का तो तू शोक कर रहा है और ज्ञानीजनों जैसी बातें कर रहा है; परन्तु ज्ञानी लोग मरे हुएों का और जीवते हुएों का शोक नहीं करते हैं ॥११॥

न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमं जनाधिपाः ।

न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम् ॥१२॥

हे अर्जुन, इस देहधारण के पहले क्या मैं नहीं रहा ? जबवा तू नहीं रहा ? अथवा ये सब राजा लोग न थे ? जबवा हम सब बाद में क्या न होंगे ? ऐसा नहीं है, किन्तु सब से होते आये हैं और होंगे ॥१२॥

देहि नोऽस्मिन्यथा देहे कौमारं यौवनं जरा ।

तथा देहान्तरप्राप्तिर्धौरस्तत्र न मुह्यति ॥१३॥

देही वर्षात् आत्मा, इनको इसी देह में जैसे लड़कपन, जवानी और बुढ़ापा प्राप्त होता है वैसे ही दूसरे देह की प्राप्ति होती है, इस विषय में ज्ञानी को मोह नहीं होता ॥१३॥

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखाः ।

आगमायायिनोऽनित्यास्तास्तितिक्षस्व भारत ॥१४॥

है कुन्तीपुत्र, जाड़ा गरमी सुख और दुःख देने वाले
सृष्टि के पदार्थ हैं, उनका आभास केवल इन्द्रियों के
से होता है; और वे आते हैं और चले जाते हैं, सरा
रहते इसीलिए अनित्य हैं, सो हे अर्जुन, उनको
सहो ॥१४॥

यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ ।

समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते ॥१५॥

हे पुरुषश्रेष्ठ, जिस पुरुष को ये पदार्थ बलेश नहीं दे
हैं वह सुख तथा दुःख को एक-सा समझने वाला महा
मोक्ष के योग्य होता है ॥१५॥

नाऽसतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः ।

उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः ॥१६॥

जो पदार्थ असत् अर्थात् विद्यमान नहीं हैं उनकी 'है'
प्रतीति नहीं होती, और जो सत् अर्थात् विद्यमान हैं उ
'नहीं है' ऐसी प्रतीति नहीं होती, इस प्रकार दोनों
निर्णय तत्त्वज्ञानियों ने किया है ॥१६॥

अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम् ।

विनाशमप्यस्यास्य न कश्चित् कर्तुं मर्हति ॥१७॥

जिसने यह सब संसार व्याप्त कर रखा है उसका नाश कभी नहीं होता, और जो सदा विकार से रहित है, उसे नष्ट करने को कोई समर्थ नहीं है ॥१७॥

अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्थोक्ताः शरीरिणः ।

अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद्युध्यस्व भारत ॥१८॥

हे भारत, सदा रहनेवाला, अविनाशी, अप्रमेय (प्रमाण करने के योग्य नहीं) ऐसा जो देही (आत्मा) है उसके देह विनाशी हैं, इसलिए मोह न करके तू युद्ध कर ॥१८॥

य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम् ।

उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते ॥१९॥

जो इस आत्मा को मारने वाला समझता है और जो इस आत्मा को मरा समझता है वे दोनों ठीक नहीं जाते, क्योंकि यह न तो किसी को मारता है न किसी द्वारा मारा जाता है ॥१९॥

न जायते म्रियते वा कदाचिन्नाय भूत्वा भविता वा न भूयः
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने

शरीरे ॥२०॥

यह जन्म नहीं लेता और कभी मरता भी नहीं और पहिले जन्म लेकर फिर जन्म न लेगा, ऐसा भी नहीं । यह अज (न जन्मने वाला), नित्य, शाश्वत, पुरातन है । इसी कारण देह के मरा होने पर भी उसका नाश नहीं होता ॥२०॥

वेदाविनाशिनं नित्यं य एनमजमव्ययम् ।

कथं स पुरुषः पार्थ क धातयति हन्ति कम् ॥२१॥

हे पार्थ, जो इस (आत्मा) को अविनाशी, नित्य, अनादि और अव्यय अर्थात् विकार-शून्य जानता है, वह पुरुष कैसे किसी को मरवाता है और कैसे किसी को मारता है ॥२१॥

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय ।

नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि ।

तथा क्षरीराणि विहाय जीर्णा-

न्यन्यानि संयाति नवानि देही ॥२२॥

जैसे कोई मनुष्य पुराने कपड़ों को छोड़कर नये दूसरे कपड़ों को पहनता है वैसे ही यह आत्मा पुराने शरीर को त्यागकर नये शरीरको प्राप्त होता है ॥२२॥

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः ।

न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः ॥२३॥

इस (आत्मा) को खड्ग आदिक शस्त्र नहीं काटते,
अग्नि नहीं जलाता, जल नहीं भिगोता और वायु नहीं
सुखाता ॥२३॥

अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च ।

नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः ॥२४॥

काटने, जलाने, भिगोने और सुखाने के योग्य नहीं ऐसा
नित्य, सर्वव्यापी, स्थिर, निश्चल यह आत्मा सनातन
अर्थात् अनादि है ॥२४॥

अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते ।

तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि ॥२५॥

यह आत्मा इन्द्रियों से जाना नहीं जाता अचिन्त्य अर्थात्
कल्पना से परे है । और विकार से रहित है; इसलिए
हे अर्जुन, ऐसा जानकर इसका शोक नहीं करना
चाहिए ॥२५॥

अथ चैनं नित्यजातं नित्यं वा मन्यसे मृतम् ।

तथापि त्वं महाबाहो नैनं शोचितुमर्हसि ॥२६॥

ह महीबाही अजुन, यह आत्मा बार-बार जन्मता है
बार-बार मरता है, ऐसा यदि तू माने तो, भी
बारे में शोक करना योग्य नहीं है ॥२६॥

जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च ।

तस्मादपरिहार्यं न त्वं शोचितुमर्हसि ॥२७॥

क्योंकि जो उत्पन्न हुआ है उसकी अवश्य मृत्यु होगी
जो मरता है उसका जन्म भी अवश्य ही होगा; इस का
उस बेवश बात में तुम्हें शोक नहीं करना चाहिए ॥२८॥

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत ।

अव्यक्तनिघनान्येव तत्र का परिदेवना ॥२९॥

हे भारत, जन्म लेने के पहिले इन पुत्र मित्र आदि प्राणि
का नाम-रूप न था और मरने के बाद भी इनका ना
रूप न रहेगा । यह तो मध्य में नाम-रूप दिखाई पड़
है, वह भी मिथ्या है; तो क्या ऐसे प्राणियों के विषय
शोक करना चाहिए ? ॥३०॥

आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेन-

माश्चर्यवद्ब्रूवति तथैव चान्यः ।

आश्चर्यवच्चेनमन्यः शृणोति

श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित् ॥३१॥

जो मनुष्य इस आत्मा को आश्चर्यपूर्वक देखता कहता और सुनता है, वह विरला है, परंतु देखकर, वहकर और सुनकर भी इस आत्मा को वास्तव में कोई भी नहीं जानता है ॥२६॥

देही नित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत ।

तस्मात्सर्वाणि भूतानि न त्वं शोचितुमर्हसि ॥३०॥

हे भारत, यह आत्मा नित्य अर्थात् सब काल में और सब अवस्था में अवध्य (बध होने के योग्य नहीं) है, और सबके शरीर में सर्व-व्याप्त है; इसलिए प्राणियों के निमित्त तुम्हको शोक करना उचित नहीं है ॥३०॥

स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि ।

धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते ॥३१॥

हे अर्जुन, तू अपने क्षत्रिय कर्म के अनुसार युद्ध से पलायन न कर; क्योंकि क्षत्रिय के लिए धर्मयुद्ध से अतिरिक्त कुछ हितकर नहीं ॥३१॥

यदृच्छया चोपपन्नं स्वर्गद्वारमपावृतम् ।

मुखिनः क्षत्रियाः पार्थ लभन्ते युद्धमीदृशम् ॥३२॥

हे पार्थ, अपने आप प्राप्त हुआ यह युद्ध खुला हुआ स्वर्ग

का द्वार है, इस प्रकार के युद्ध को भाग्यवान् जयिय लोग पाते हैं ॥३२॥

अथ वेस्वभिमं धर्म्यं संग्रामं न करिष्यसि ।

ततः स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा वापयवाप्स्यसि ॥३३॥

अब अपने धर्म के अनुकूल इस युद्ध को यदि तू न करेगा तो धर्म और यश को छोड़ पाप ही को प्राप्त होगा ॥३३॥

अकीर्तिं चापि भूतानि कषयिष्यन्ति तेऽप्ययान् ।

संभावितस्य चाकीर्तिर्मरणायतिरिच्यते ॥३४॥

और सब लोग तेरी रूढ़ा अकीर्ति करेंगे । प्रतिष्ठित पुण्य के लिए अपकीर्ति, मरने से अधिक दुःख देने वाली है ॥३४॥

अमात्रजायुपरतं मंस्यन्ते त्वां महारथाः ।

येषां च त्वं बहुमतो भूत्वा यास्थसि लाघवम् ॥३५॥

जो महारथी लोग तुमको बड़ा मान देते हैं वे कहेंगे कि भय के कारण यह संग्राम से हट गया; और इतने दिनों से प्राप्त प्रतिष्ठा को तू खो देगा ॥३५॥

अवाप्यवादांश्च बहून्धविष्यन्ति तवाहिताः ।

निम्बन्तस्तव सामर्थ्यं ततो दुःखतरं नृ किम् ॥३६॥

अब लोग तेरे पराक्रम की निन्दा करते हुए जो न कहने

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust
चाहिए, ऐसे बहुतरे धर्मन कहो, इससे ज्ञान तुम्हें
क्या होगा ? ॥३६॥

हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम् ।

तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः ॥३७॥

यदि युद्ध में मारा जाएगा तो स्वर्ग पावेगा, और जो जय
पावेगा तो भूमण्डल के राज्य भोगेगा, इसलिए हे कुन्ती-
के पुत्र, युद्ध के लिए दृढ़ प्रतिज्ञा करके उठ ॥३७॥

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ ।

ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि ॥३८॥

सुख, दुःख, लाभ, हानि, जय और पराजय इनको
समान मान कर युद्ध कर । इस भांति समभाव से युद्ध
करने से तुझे पाप नहीं लगेगा ॥३८॥

एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु ।

बुद्ध्या युक्तो यथा पार्थ कर्मबन्धं प्रहास्यसि ॥३९॥

हे पार्थ, सांख्य अर्थात् परमार्थ वस्तु के विवेक के विषय
में यह ज्ञान तेरे लिए मैंने कहा । अब योग के विषय में
इस ज्ञान को आगे नुन, जिस ज्ञान करके युक्त हुआ तू
कर्मबन्धन से छूटेगा ॥३९॥

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते ।

स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयाद् ॥४०॥

इस धर्म का पूरा आचरण न हुआ तो भी यह निष्फल नहीं होता, यदि इसमें चूक हुई तो भी दोष नहीं होता, और इसका थोड़ा-सा भी आचरण बड़े भारी (जन्म-मृत्यु के) भय से रक्षा करता है ॥४०॥

व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन ।

बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम् ॥४१॥

हे कुरुनन्दन, ईश्वर आराधना से उन्मुख निश्चयात्मक बुद्धि ईश्वर आराधन की उन्मुख निश्चयात्मक बुद्धि का सारांश है और यह ईश्वर-प्राप्ति का एक मार्ग है । परन्तु इस विषय में जिन सकामी पुरुषों की दृढ़ प्रवृत्ति नहीं है उनकी बुद्धियां अनेक भाँति की हैं और उन अनेक बुद्धियों के अनेक ही मार्ग हैं ॥४१॥

यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः ।

वेऽवावरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः ॥४२॥

कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम् ।

क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति ॥४३॥

जुं, वेदों में अनेक भांति से दिखाये हुए फलों से
आदि फलों की अभिलाषा करने वाले, उनकी प्राप्ति
ए कर्मकाण्ड को एक मात्र उपाय बताने वाले कर्मों
प्रवृत्त, स्वर्गवास ही को परम पुरुषार्थ मानने वाले
नी लोग केवल ऐश्वर्यों के भोग ही में दृष्टि देकर
क्रियाओं के आडम्बरों से बड़ी हुई जन्म के द्वारा
फलों को देने वाली बाणी का प्रचार करते
॥४२॥४३॥

भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तथापहतचेतसाम् ।

व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते ॥४४॥

तु भोग और ऐश्वर्य में फंसे हुए तथा कर्मकाण्डों में
त चित्तवृत्ति वाले अन्तःकारणों में परमेश्वर में दृढ
द्व नहीं होती ॥४४॥

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन ।

निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान् ॥४५॥

, सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुणरूप से युक्त सकाम
तुम काम आदि के फल की इच्छा, जो संसार के विषय-
व हैं उनको त्याग कर निष्काम हो जाओ और परस्पर-

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.
 विरोधी सुख दुःख आदि पदार्थों से मुक्त होकर नित्य
 धर्म को धारण कर, यह पदार्थ कैसे मिलेगा यह कैसे
 रहेगा, इस चिन्ता को छोड़ और आत्मपरायण रहो ।

॥४५॥

यावानर्थ उदपाने सर्वतः संप्लुतोदके ।

तावान्सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः ॥४६॥

छोटे-छोटे अनेक जलाशयों से होने वाले काम एक बड़े
 भारी परिपूर्ण जलाशय से जैसे सहज में हो जाते हैं; वैसे
 संपूर्ण वेदों से होने वाले भी प्रयोजन हैं वे ब्रह्म जानने
 वाले को सहज में प्राप्त होते हैं ॥४६॥

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ।

मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि ॥४७॥

हे अर्जुन, तेरा केवल कर्म ही के विषय में अधिकार है,
 कर्मफलों के विषय में कदापि नहीं । तुम कर्मफलों
 का हेतु मत बनो, नाही कर्म त्याग का विचार मन में
 लाओ ॥४७॥

योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनंजय ।

सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते ॥४८॥

हे धनंजय सग को त्याग कर, सिद्धि और असिद्धि में सम-
दृष्टि हो, योक्थुक्त (प्रभु परायण होकर) कर्मों को कर।
इस सबुद्धि को योग कहते हैं ॥४८॥

दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनंजय ।

बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः ॥४९॥

हे धनंजय, केवल सकाम कर्म का आचरण ज्ञानयोग को
अपेक्षा निकृष्ट है, इसलिए ज्ञान में मनोवृत्ति रखो। ज्ञान
को छोड़ कर केवल फल के निमित्त कर्म करने वाले पुरुष
अधम हैं ॥४९॥

बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते ।

तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम् ॥५०॥

ज्ञानयोग-युक्त पुरुष इस लोक में पुण्य और पाप से
लिप्त नहीं होता है; इसलिए समत्व-बुद्धि के लिए तुम
उपाय करो ॥५०॥

कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः ।

जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम् ॥५१॥

ज्ञाननिष्ठ विचारशील पुरुष कर्मजन्य फल को छोड़ कर
निष्काम कर्म करके जन्म-बन्धन से मुक्त हुए आशंका-
रहित परम पद मोक्ष को पाते हैं ॥५१॥

यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति ।

तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च ॥५२॥

जब तेरी बुद्धि अज्ञानरूप मालिन्य को छोड़ेगी, तब तू सुने हुए और सुनने योग्य पदार्थों से विरक्त होगा ॥५२॥

श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला ।

समाधावचना बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि ॥५३॥

जब अनेक भांति के श्रुति-वाक्यों से भ्रान्त तेरी बुद्धि निश्चल होकर समाधानवृत्ति में स्थिर होगी, तब तू योगफल (तत्त्वज्ञान) को पावेगा ॥५३॥

अर्जुन उवाच

स्थितप्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्यस्य केशव ।

स्थितधीः किं प्रभाषेत किमासीत ब्रजेत किम् ॥५४॥

अर्जुन बोले—हे केशव, समाधि में टिके हुए निश्चल-बुद्धि पुरुष के क्या लक्षण हैं ? और वह ज्ञानी पुरुष संभाषण आदि लौकिक व्यवहार में किस रीति से प्रवृत्त होता है ॥५४॥

श्रीभगवानुवाच ।

प्रजहाति यदा कामान्सर्वान्पार्थ मनोगतान् ।

आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते ॥५५॥

श्रीभगवान् बोले - हे अर्जुन, जब कोई अपने मन में आयी हुई कामनाओं को छोड़ अपने रूप ही में बाप संतुष्ट होता है, तब वह स्थितप्रज्ञ कहा जाता है ॥५५॥

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः ।

वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते ॥५६॥

जो दुःखों में उद्विग्न नहीं होता, सुखों में आसक्त नहीं और जिसने प्रीति, भय, तथा क्रोध को त्याग दिया है वह स्थितप्रज्ञ कहा जाता है ॥५६॥

यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम् ।

नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥५७॥

जो स्वजनों के प्रति स्नेह से रहित है और जो अनुकूल पदार्थ पाकर आनन्द में, प्रतिकूल पदार्थ पाकर दुःख में मग्न नहीं होता, उसकी बुद्धि स्थिर हुई है । ॥५७॥

यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः ।

इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥५८॥

जैसे कछुवा अपने सब अंगों को समेट लेता है, वैसे जिसने अपनी सब इन्द्रियों को विषयों से हटा लिया है उसकी बुद्धि स्थिर समझ ॥५८॥

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य वेहिनः ।

रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते ॥५९॥

जिसने विषयों का सेवन नहीं किया, उसके विषय तं निवृत्त हो जाते हैं. पर उसमें अभिलाषा बनी रहती है इस वासना से निवृत्ति ब्रह्म-साक्षात्कार होने से होती है ॥५९॥

यततो ह्यपि कौंतेय पुरुषस्य विपश्चिताः ।

इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः ॥६०॥

हे अर्जुन, यत्न करते हुए विद्वान् पुरुष को भी, व्याकुल करने वाले इन्द्रिय-सुख काल पूर्वक (उसके) चित्त को विचलित कर देते हैं ॥६०॥

तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत भूपरः ।

वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥६१॥

उब सब इन्द्रियों को भलीभांति रोककर भुक्तमें विश्वास कर एकाग्र-चित्त हो क्योंकि जिसकी इन्द्रियां उसकी अधीन हैं, उसकी बुद्धि स्थिर कही जाती है ॥६१॥

ध्यायतो विषयान् पुंसः संगस्तेषूपजायते ।

संगात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते ॥६२॥

जो पुरुष विषयों का चिन्तन करता है उसकी उन विषयों में प्रीति उत्पन्न होती है, प्रीति होने से इच्छा होती है, और उस इच्छा-पूर्ति में बाधा आने से (प्रतिबन्ध) से क्रोध उत्पन्न होता है ॥६२॥

क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात्स्मृतिविभ्रमः ।

स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ॥६३॥

और क्रोध से अविवेक होता है—अर्थात् क्या करना और अविवेक से स्मृति का नाश होता है, स्मृति का नाश होने से बुद्धि नष्ट हो जाती है और बुद्धि का नाश होने से सर्वस्व नाश होता है ॥६३॥

रागद्वेषवियुक्तस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन् ।

आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति ॥६४॥

इन्द्रियों को रागद्वेष से हटाकर अपने अधीन करके जो पुरुष विषयों का सेवन करता है वह शान्ति पाता है ॥६४॥

प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते ।

प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते ॥६५॥

शान्ति प्राप्ति से सब दुःख नष्ट हो जाते हैं और उस

प्रसन्न (निर्मल) चित्त वाले की बुद्धि बहुत जल्दी स्थिर हो जाती है ॥६५॥

नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना ।

न चाभावयतः शान्तिरक्षांतस्य कुतः सुखम् ॥६६॥

जो पुरुष योगयुक्त नहीं है उसको आत्मविषय आत्म-बुद्धि नहीं होती; और आस्तिक-भावना अर्थात् आत्मज्ञान में तत्परता भी नहीं होती। जिसको आत्मज्ञान नहीं हुआ उसको शान्ति नहीं होती, और जिसको शान्ति नहीं है उसको (मोक्षरूपी) सुख कहाँ से होगा ? ॥६६॥

इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते ।

तदस्य हरति प्रज्ञां चायुर्नविमिवास्मसि ॥६७॥

जैसे वायु समुद्र में नाव को इधर-उधर घुमाता है वैसे मन, चाना विषयों में प्रवृत्त हुए इन्द्रियों में जिस इन्द्रिय-सुख से मन विभोर होता है, वही एक इन्द्रिय मनुष्य को विवेक-शून्य कर देती है ॥६७॥

तस्माद्यस्य महाबाहो निगृहीतानि सर्वशः ।

इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥६८॥

इसलिए हे महाबाहो अर्जुन, जिसने अपनी इन्द्रियों का

सब विषयों से खींच लिया है, उसकी बुद्धि स्थिर हुई है ॥६८॥

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागति संयमी ।

यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः ॥६९॥

जहां सब प्राणी अज्ञानरूप रात्रि का अनुभव करते हैं वहां जितेन्द्रिय पुरुष ज्ञानरूप जाग्रत (रागद्वेष-रहित) अवस्था का अनुभव करता है; और जो सब प्राणियों को जाग्रत (रागद्वेष से लिप्त) अवस्था प्रतीत होती है वह अज्ञान-रूप रात्रि है ऐसा विवेकी जानता है ॥६९॥

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं

समुद्रमाफः प्रविशन्ति यद्वत् ।

तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे

स शान्तिमाप्नोति न कामकामी ॥७०॥

जैसे समुद्र के मध्य में चारों ओर से जल के प्रवाह पड़ते हैं तो भी वह अपनी मर्यादा को नहीं त्याग करता, ऐसे जो विषयों के संग होते भी विकार को नहीं प्राप्त होता वह शान्ति को पाता है, परन्तु भोग की कामना करने वाला पुरुष कभी शान्ति को प्राप्त नहीं होता ॥७०॥

विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निःस्पृहः ।

निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति ॥७१॥

जो सब कामनाओं को त्याग करके निस्पृह विचरता है, वही समता और अहंकार को छोड़ने वाला मनुष्य शान्ति को प्राप्त होता है ॥७१॥

एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नानां प्राप्य विमुह्यति ।

स्थित्वाऽस्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति ॥७२॥

हे पार्थ, हमने जो वर्णन किया यह ब्राह्मी स्थिति अर्थात् ब्रह्मरूप में टिकना है, इस (स्थिति) को पाकर पुरुष मोह को नहीं प्राप्त होता । और, अन्त समय में भी इस स्थिति में रहकर परब्रह्म में लीन होता है ॥७२॥

तृतीय अध्यायः कर्मयोग

अर्जुन उवाच ।

ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन ।

तत्किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव ॥१॥

अर्जुन बोला—हे जनार्दन, यदि आपके मत में कर्म की अपेक्षा बुद्धि (ज्ञानयोग) श्रेष्ठ है तो मुझको इस भयंकर कर्म में क्यों प्रवृत्त करते हो ? ॥१॥

व्यामिश्रेणेव वाक्येन बुद्धि मोहयसीव मे ।

तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम् ॥२॥

विविध विचारों से भरे इन वाक्यों द्वारा आप मेरी बुद्धि को मोहित करते हो, इसलिए ऐसा एक निश्चय करके कहो जिसमें मेरा कल्याण हो ॥२॥

श्रीभगवानुवाच

लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयाऽनघ ।

ज्ञानयोगेन सांख्यया कर्मयोगेन योगिनाम् ॥३॥

श्रीभगवान् बोले — हे निष्ठाप, इस लोक में दो प्रकार की स्थिति मैंने पहिले कही है अर्थात् ज्ञानयोग करके सांख्य-शास्त्र के जानने वालों की, और निष्काम कर्म द्वारा कर्म-योगियों की ॥३॥

न कर्मणासनारम्भान्तेऽकर्म्यं पुरुषोऽश्नुते ।

न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति ॥४॥

हे अर्जुन, केवल कर्मों के न करने से कोई उनसे मुक्त नहीं होता, और संन्यास अर्थात् कर्मों के त्याग से भी कार्य की सिद्धि नहीं होती ॥४॥

नहि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत् ।

कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजगुणैः ॥५॥

क्षणमात्र के लिए भी कोई कभी कर्म के बिना नहीं रह सकता, क्योंकि प्रकृति के गुण (सत्त्व, रज, तम) पुरुष से कर्म कराते हैं ॥५॥

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन् ।

इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते ॥६॥

जो कर्मेन्द्रियों (हाथ, पैर, मुख, गुदा, उपस्थ) को रोक कर मन से विषयों का स्मरण करता हुआ स्थित है, वह अज्ञानी पुरुष दम्भी कहा जाता है ॥६॥

यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेजुनः ।

कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसकतः स विशिष्यते ॥७॥

हे अर्जुन, मन से ज्ञानेन्द्रियों (नेत्र, कर्ण, नासिका, जिह्वा और त्वचा) को रोक कर विषयों में अनासक्त हुआ जो कर्म का आरम्भ करता है वह श्रेष्ठ है ॥७॥

नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः ।

शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः ॥८॥

नियत अर्थात् (नियम प्राप्त) कर्म तू कर, क्योंकि कर्म के न करने से कर्म का करना श्रेष्ठ है। यदि कर्म का आचरण न किया तो तेरे शरीर का पोषण भी नहीं होगा ॥८॥

तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसंगः समाचर ॥६॥

यज्ञार्थ ईश्वर-निर्मित कर्म से अतिरिक्त कर्म करके पुरुष बन्धन को प्राप्त होता है इसलिए हे कौन्तेय, तू परमेश्वर की प्राप्ति के अर्थ मुक्तसंग हुआ कर्म को कर ॥६॥

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः ।

अनेन प्रसविष्यध्वमेव वोऽस्तिवष्टकामधुक् ॥१०॥

सृष्टि के प्रारम्भ में ब्रह्मा ने यज्ञों के साथ प्रजाओं को उत्पन्न करके उनसे कहा—इस यज्ञ करके तुम सब वृद्धि को प्राप्त हो और यह (यज्ञ) तुम्हें इष्टफल देने वाला हो ॥१०॥

देवान्भाषयतानेन ते देवा भावयन्तु वः ।

परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ ॥११॥

ये यज्ञ करके तुम देवों को संतुष्ट करो और वे (देव) तुम्हें संतोष दें, इस प्रकार आपस में बर्ताव करते हुए तुम इष्टफल को पावोगे ॥११॥

इष्टान्भोगान् हि वो देवा वास्यन्ते यज्ञभाविताः ।

तैर्दत्तान्प्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः ॥१२॥

यज्ञ से तृप्त हुए देव तुम लोगों को यथेष्ट सुख देंगे; उन देवों के दिये हुए अन्नादिक उपभोग उनकी न देकर जो आप ही भोगता है वह चोर है ॥१२॥

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः ।

भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात् ॥१३॥

जो यज्ञ करने से बचे हुए अन्न का भोजन करते हैं वे सज्जन सब पापों से मुक्त होते हैं, परन्तु जो अपने अर्थ अन्न पकाते हैं वे पापी हैं ॥१३॥

अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसंभवः ।

यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः ॥१४॥

अन्न से प्राणियों की उत्पत्ति होती है, और मेघ से अन्न उत्पन्न होता है, यज्ञ से मेघ की उत्पत्ति होती है, और यज्ञ कर्म से उत्पन्न होता है ॥१४॥

कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम् ।

सस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम् ॥१५॥

और ब्रह्म से कर्म की उत्पत्ति होती है । ब्रह्म किसी से

उत्पन्न होने वाला नहीं है। इसलिए सर्वव्यापक वह
(ब्रह्म) यज्ञ में सर्वथा स्थित रहता है ॥१५॥

एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः ।

अथायुरिन्द्रियारामो भोगं पार्थ स जीवति ॥१६॥

इस पूर्वरीति के अनुसार जो नहीं चलता, उसका जीवन
पापरूप है। और हे पार्थ, इन्द्रियों के सुख में रमे हुए
उसका जीवन व्यर्थ है ॥१६॥

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः ।

आत्मन्येव च संतुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते ॥१७॥

जो पुरुष आत्मा में रत, आत्मा के सुख में तृप्त और
आत्मा ही के बीच में संतुष्ट है, वह कर्तव्य से मुक्त
है ॥१७॥

नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन ।

न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः ॥१८॥

उसको कर्म के करने और न करने से कोई लाभ नहीं
है, और उस ज्ञानी को ब्रह्मा से लेकर तृणपर्यन्त प्राणियों
में कोई स्वार्थ नहीं है। उसके सभी कर्म लोककल्याणार्थ
हैं ॥१८॥

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर ।

असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः ॥१६॥

परन्तु तू वैसा नहीं है, इसलिये संग्रहित हो निरन्तर अपने करने योग्य कर्म को कर । विषयों में अनासक्त पुरुष कर्म को करता हुआ परमपद को पाता है ॥१६॥

कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः ।

लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन्कर्तुं प्रहंसि ॥२०॥

कर्म ही करके जनक आदि अनेक महापुरुष उत्तम सिद्धि को प्राप्त हुए । इस लोकमर्यादा को भी देखता हुआ तू कर्म करने के योग्य है ॥२०॥

यद्यवाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः ।

स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥२१॥

श्रेष्ठ पुरुष जो जो करता है, उसी को अन्य लोग भी करने लगते हैं, और वह जिस जिसको उत्तम मानता है उसी को अन्य लोग भी उत्तम समझते हैं ॥२१॥

न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किञ्चन ।

नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि ॥२२॥

हे पार्थ, मैं किसी कर्तव्य के लिए बाध्य नहीं हूँ; क्योंकि

तीनों लोकों में ऐसी कोई वस्तु नहीं है जो मुझ न मिली हो, अथवा मिलनी हो, तो भी मैं कर्मनिष्ठ हूँ ॥२२॥

यदि ह्यहं न वर्तेय जातु कर्मण्यतन्द्रितः ।

मम बर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥२३॥

यदि मैं आलस्य छोड़ कर्म में न प्रवृत्त होऊँ तो सब मनुष्य मेरे ही मार्ग को स्वीकार करेंगे ॥२३॥

उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेवहम् ।

संकरस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः ॥२४॥

यदि मैं कर्म न करूँ तो ये सब लोक भ्रष्ट हो जावें, उससे वर्णसंकर हो और मैं इनका घात करने वाला होऊँ ॥२४॥

सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत ।

कुर्याद्विद्वांस्तथाऽसक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम् ॥२५॥

हे भारत, अज्ञानी कर्म के विषय में आसक्त होकर जैसा उसका आचरण करते हैं, वैसा विवेकी जन कर्म में आसक्त न होकर लोकमर्यादा की इच्छा से कर्म का आचरण करें ॥२५॥

न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसङ्गिनाम् ।

जोयस्तत्सर्वं भाणि विद्वान्युक्तः समाचरन् ॥२६॥

ज्ञानी जन कमशील अज्ञानियों को मति को चंचल न करे
किंतु सावधानी पूर्वक सब कर्मों को करते हुए उनसे कर्म
ही करावे ॥२६॥

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः ।

अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति भ्रम्यते ॥२७॥

प्रकृति के सत्त्व-रज तमोरूप गुणों से कर्म किये जाते हैं
किंतु अहंकार से मूढ़ मनुष्य स्वयं को कर्मों का कर्ता
मानता है ॥२७॥

तत्त्ववित्तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः ।

गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते ॥२८॥

परन्तु हे महाबाहो जो पुरुष गुण और कर्म से आत्मा को
भिन्न मानता है वह कर्ता होने के अभिमान से रहित
होता है । वह विषयों को इन्द्रियों का गुण मान कर
अनासक्त रहता है ॥२८॥

प्रकृतेर्गुणसंमूढाः सज्जन्ते गुणकर्मसु ।

तानकृत्स्नविदो मन्दान् कृत्स्नविन्न विचालयेत् ॥२९॥

प्रकृति के गुणों से मोहित जन जो देहादिकों के व्यापार
में आसक्त रहते हैं, उन मन्दबुद्धियों को आत्मज्ञानी ज्ञान
की बात बताकर कर्म से विमुख न करे ॥२९॥

निराशीनिर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः ॥३०॥

हे अर्जुन, सब कर्मों को विवेक-बुद्धि से मुझे समर्पण करके निष्काम हो, अहंकार और शोक-रहित होकर युद्ध कर ॥३०॥

ये मे भर्तृमित्रं नित्यमनुतिष्ठन्ति मानवाः ।

अद्यावन्तोऽनसूयन्तो मुच्यन्ते तेऽपि कर्मभिः ॥३१॥

जो मनुष्य दोषदृष्टि का त्याग करते हुए अद्यायुक्त इस मेरे सिद्धान्त का आचरण करते हैं, वे कर्म-बन्धन से मुक्त होते हैं ॥३१॥

ये त्वेतदभ्यसूयन्तो नानुतिष्ठन्ति मे मतम् ।

सर्वज्ञानविमूढास्तान्विद्धि नष्टानचेतसः ॥३२॥

परन्तु जो मनुष्य ईश्वरार्थ कर्म का आचरण नहीं करते, उन्हें सब प्रकार के ज्ञान से शून्य समझो ॥३२॥

सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि ।

प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति ॥३३॥

ज्ञानवान् पुरुष भी अपनी प्रकृति के अनुसार कर्म करता है और साधारण प्राणी भी अपनी प्रकृति के अनुसार कर्म करता है, यह बात बिना हठ के माननी चाहिए ॥३३॥

तयोर्न वशमागच्छेत्तो ह्यस्य परिपन्थिनी ॥३४॥

किसी इन्द्रिय की किसी विषय में प्रीति और किसी विषय में द्वेष होता है, उन (राग तथा द्वेष) के अधीन न होना चाहिए, क्योंकि वे कल्याण-मार्ग के लिए शत्रु हैं । ॥३४॥

अयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात् ।

स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः ॥३५॥

यदि अपना धर्म गुणहीन है, और पराया धर्म गुणयुक्त है, तो भी पराये धर्म की अपेक्षा अपना धर्म श्रेष्ठ है । अपने धर्म में मरण भी श्रेष्ठ है, (क्योंकि स्वधर्म में सुख मिलता है) परन्तु पराया धर्म भय (नरक) को देने वाला है ॥३५॥

अर्जुन उवाच

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः ।

अनिच्छन्नपि वाष्ण्येय बलादिव नियोजितः ॥३६॥

अर्जुन बोला—हे वाष्ण्येय, इच्छा न करते हुए भी हठ से प्रेरित हुआ यह पुरुष किसकी प्रेरणा से पाप को करता है ? ॥३६॥

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः ।

महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम् ॥३७॥

श्रीकृष्ण बोले—रजोगुण से उत्पन्न काम और क्रोध पाप
जनक है, इस काम क्रोध की तृप्ति नहीं होती है, इनको
इस लोक में शत्रु जान ॥३७॥

धूमेनाव्रियते वह्निर्यथाऽऽदृशो मलेन च ।

यथोत्बेनावृतो गर्भस्तथा तेनेदमावृतम् ॥३८॥

धूम से अग्नि, मल से दर्पण, और गर्भ वेष्टन-चर्म
(फल्ली) से गर्भस्थ बालक आच्छादित रहता है, वैसे
मैं से यह ज्ञान वेष्टित रहता है ॥३८॥

आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा ।

कामरूपेण कौन्तेय दुष्पूरेणानलेन च ॥३९॥

कौन्तेय, यह कामरूपी नित्यवैरी कभी तृप्त न होने
वाली अग्नि है, इसने ज्ञावी पुरुषों के ज्ञान पर आवरण
ल रक्खा है ॥३९॥

इन्द्रियणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते ।

एतैर्विभोहयत्येष ज्ञानमावृत्य वेहिनम् ॥४०॥

इन्द्रिय, मन और बुद्धि, ये इसके निवास कह जाते।
इनके द्वारा यह ज्ञान को आच्छादित करके मनुष्य
मोहित करता है ॥४०॥

तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ ।

पाप्मानं प्रजहि ह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम् ॥४१॥

इसलिए, हे भरतश्रेष्ठ, तू पहले इन्द्रियों को अपने अधीन
करने वाले शास्त्रज्ञान और आत्मज्ञान को नाश करने
वाले इस पापरूपी काम को मार ॥४१॥

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः ।

मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः ॥४२॥

देह आदिक सीमित पदार्थ से इन्द्रिय सूक्ष्म है, इन्द्रियों
मन, मनसे बुद्धि और बुद्धि से आत्मा सूक्ष्म है ॥४२॥

एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना ।

जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम् ॥४३॥

हे महाबाहो, इस भांति बुद्धि से परे आत्मा को धारण
और मन को निश्चल करके दुःख से जीतने के योग्य कर्म
रूपी शत्रु को मार ॥४३॥

चतुर्थ अध्यायः ज्ञानयोग

श्रीभगवानुवाच ।

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम् ।
विवस्वान्मनवे प्राह सनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत् ॥१॥
वान् बोले—इस सदा रहने वाले योग को मैंने
विवस्वान् (सूर्य वंश के मूल पुरुष) से कहा, विवस्वान्
मनु से कहा और मनु ने इक्ष्वाकु से कहा ॥१॥

एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः ।
स कालेनेह सहता योगो नष्टः परंतप ॥२॥
शत्रुओं को संताप देने वाले, इस भांति परम्परा से
प्राप्त हुए इस योग को राजर्षियों ने जाना; वह फिर बहुत
काल से नष्ट हो गया ॥२॥

स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः ।
भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम् ॥३॥
वही प्राचीन योग तुझसे मैंने कहा, क्योंकि तू मेरा भक्त
और मित्र है। यह ज्ञान भी अत्यन्त उत्तम और गोपनीय
है ॥३॥

अर्जुन उवाच ।

अपरं भवतो जन्म परं जन्म विवस्वतः ।

कथमेतद्विजानीयां त्वमादौ प्रोक्तवानिति ॥४॥

अर्जुन बोला—हे कृष्ण, तुम्हारा जन्म अब हुआ विवस्वान् (सूर्य) का जन्म पहिले हुआ, तो मैं कैसे कि तुमने पहिले उनसे कहा है ? ॥४॥

श्रीभगवानुवाच

बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन ।

तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परंतप ॥५॥

भगवान् बोले—हे परंतप अर्जुन, मेरे अनेक जन्म और तेरे भी अनेक जन्म हुए, उन सबको मैं जानता परन्तु तू नहीं जानता ॥५॥

अजोऽपि सन्तव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन् ।

प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवाम्यात्ममायया ॥६॥

मैं जन्म से रहित, अव्ययात्मा और प्राणियों का स्वामी होकर, निज प्रकृति का आश्रय ले, अपनी माया जन्म (व्यवहार) लेता हूँ ॥६॥

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।

अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥७॥

हे भारत, जब-जब धर्म क्षीण दशा को प्राप्त होता है और अधर्म की उन्नति होती है तब तब मैं जन्मता हूँ ॥७॥

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च बुद्धताम् ।

धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे ॥८॥

सज्जनों की रक्षा के लिए और दुर्जनों के संहार के निमित्त तथा धर्म की स्थापना करने के निमित्त युगयुग में मैं अवतार लेता हूँ ॥८॥

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः ।

त्यक्त्वा वेहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन ॥९॥

हे अर्जुन, मेरे अलौकिक जन्म और कर्म को जो भली-भांति जानता है, वह देहत्याग के अनन्तर फिर जन्म व नहीं प्राप्त होता और मुझको मिलता है ॥९॥

वीतरागभयक्रोधा सन्मया मामुपाश्रिताः ।

बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः ॥१०॥

राग, भय और क्रोध को त्याग कर जो अनन्य-भाव से मेरे में समाए हैं, ऐसे अनेक जन ज्ञानरूप-तप से पवित्र होकर सङ्गति प्राप्त हुए हैं ॥१०॥

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम् ।

मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥११॥

जो मुझको जिस भांति भजता है उसको मैं उसी भांति फल देता हूँ । हे पार्थ, मनुष्य सब प्रकार से मेरे मार्ग का अनुसरण करते हैं ॥११॥

कांक्षन्तः कर्मणां सिद्धिं यजन्त इह देवताः ।

क्षिप्रं हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति कर्मजा ॥१२॥

इस लोक में कर्मसिद्धि को चाहने वाले लोग देवताओं की पूजा करते हैं, क्योंकि मनुष्य-लोक में कर्म की सिद्धि जल्दी होती है ॥१२॥

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः ।

तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम् ॥१३॥

गुण और कर्म इनके विभाग से मैंने चारों वर्णों की सृष्टि की है, उसके करने वाले मुझको फिर भी तू अकर्ता अर्थात् न करने वाला जान ॥१३॥

न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा ।

इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते ॥१४॥

मुझको कर्म नहीं बाँधते और मेरी कर्मफल में वासना

नहीं है, इस भांति जो मुझको जानता है वह कमी से नहीं बाँधा जाता है ॥१४॥

एवं ज्ञात्वा कृत कर्म पूर्वैरपि मुमुक्षुभिः ।

कुरु कर्मैव तस्मात्त्वं पूर्वैः पूर्वतरं कृतम् ॥२५॥

इस भांति जानकर प्राचीन मुमुक्षुजनों ने भी कर्म किये हैं, इसलिए प्राचीनों के सत्त्व-शुद्धि के लिए किये हुए कर्म तू पहले कर ॥१५॥

किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः ।

तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्षयसेऽशुभात् ॥१६॥

ठीक-ठीक क्या कर्म हैं और क्या अकर्म है, इस विषय में पंडितजन भी मोहित होते हैं इसलिए उस कर्म को तुझसे कहता हूँ, जिसे जानकर तू दुःख से छूटेगा ॥१६॥

कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः ।

अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः ॥१७॥

हे अर्जुन, कर्म विकर्म अर्थात् शास्त्रनिषिद्ध कर्म और अकर्म के लक्षण भी जानने चाहिए। क्योंकि कर्म की गति बड़ी गहन है ॥१७॥

कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः ।

स बुद्धिमान्मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत् ॥१८॥
अपने धर्म के अनुसार नियमित जो कर्म हैं वे बन्धन
न डालने वाले होने के कारण अकर्म हैं, उनका करना,
करना सरीखा है, और सामान्य लोगों के मत-में के
काम न करना, ऐसा जो अकर्म है उसमें कर्म उत्पन्न हो
है; इस भांति जो जानता है वह मनुष्यों में बुद्धिमान् स
कर्मों का आचरण करने वाला योगी है ॥१८॥

यस्य सर्वे समारम्भाः कामसंकल्पवर्जिताः ।

ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः ॥१९॥
जिसके सब उद्योग कामनाओं से रहित हैं और जिनके
सब कर्म ज्ञानरूपी अग्नि से भस्म हो गये हैं, उसको ज्ञानी
लोग पण्डित कहते हैं ॥१९॥

त्यक्त्वा कर्मफलासंगं नित्यतृप्तो निराश्रयः ।

कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किञ्चित्करोति सः ॥२०॥
जो कर्म के फल में इच्छा नहीं रखता, सब काल में
आनन्द से तृप्त रहता है, जो किसी के आश्रय नहीं होता
वह कर्म में प्रवृत्त होकर भी कुछ नहीं करता ॥२०॥

निराशीर्यंतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः ।

शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ॥२१॥

सब कामनाओं से रहित, एकाग्रचित्त, बन्धन के कारणों को छोड़ जो केवल शरीरस्थिति के अर्थ वर्म करता है, वह पापभागी नहीं होता ॥२१॥

यवृच्छालाभसंतुष्टो द्वंद्वातीतो विमत्सरः ।

समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वापि न निबद्ध्यते ॥२२॥

अपने आप जो वस्तु मिले उसी में संतुष्ट, शीत उष्ण आदि द्वन्द्व पदार्थों के क्लेश को न मानने वाला, मत्सर से रहित, अर्थ की सिद्धि और असिद्धि में एकसा रहने वाला पुरुष कर्म करके भी बन्धन को नहीं पाता ॥२२॥

गतसंगस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः ।

यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते ॥२३॥

निष्काम, राग और द्वेष से मुक्त, ज्ञाननिष्ठ पुरुष, यज्ञ के निमित्त कर्म करता हुआ निष्कर्मता को प्राप्त होता ॥२३॥

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम् ।

ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना ॥२४॥

यज्ञपात्र, हवि, अग्नि और यजमान, ये सब ब्रह्मरूप हैं इस प्रकार जिसकी चित्तवृत्ति ब्रह्म में लगी है उसको फल भी ब्रह्मप्राप्ति रूप ही होता है ॥२४॥

देवमेवापरे यज्ञं योगिनः पर्युपासते ।

ब्रह्माग्नावपरे यज्ञं यजेनैवोपजुह्वति ॥२५॥

कई योगी देवताओं के उद्देश्य से यज्ञ करते हैं, कई ब्रह्मरूपी यज्ञ में समस्त कर्मों को ब्रह्म में विलीन कर देते हैं। इसी को ज्ञान-यज्ञ कहते हैं ॥२५॥

श्रोत्रादीर्नीन्द्रियाण्यन्ये संयमाग्निषु जुह्वति ।

शब्दादीन्विषयानन्य इन्द्रियाग्निषु जुह्वति ॥२६॥

और कई संयमरूपी अग्नि में कर्म आदि इंद्रियों की आहुति देते हैं। कई इंद्रियरूपी अग्नि में शब्द आदिक विषयों की आहुति देते हैं ॥२६॥

सर्वाणीन्द्रियकर्माणि प्राणकर्माणि चापरे ।

आत्मसंयमयोगाग्नौ जुह्वति ज्ञानदीपिते ॥२७॥

कई योगी आत्मा में एकाग्रता रूप अग्नि को ज्ञान के द्वारा प्रकाशित कर उसमें सब इंद्रियों और प्राणों के कर्मों का हवन करते हैं ॥२७॥

स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशितव्रताः ॥२८॥

कई दानरूपी यज्ञ करते हैं, कई तपस्यारूपी यज्ञ करते हैं,
कई योगरूपी यज्ञ करते हैं। कई यथाविधि व्रत धारण
कर वेदाध्ययन रूप अथवा ज्ञानप्राप्ति रूप यज्ञ करते
हैं ॥२८॥

अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथापरे ।

प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः ॥२९॥

कई योगी प्राण और अपान की गति को रोक प्राणायाम
में तत्पर हुए प्राण का अपान में और अपान का प्राण में
हवन करते हैं ॥२९॥

अपरे नियताहाराः प्राणान्प्राणेषु जुह्वति ।

सर्वेऽप्येते यज्ञविदो यज्ञक्षपितकल्मषाः ॥३०॥

कई मिताहारी बनकर प्राणों में प्राणों का यज्ञ करते हैं।
ये सब यज्ञ करने वाले यज्ञ के द्वारा अपने पापों को दूर
करते हैं ॥३०॥

यज्ञां शिष्टामृतभुजो यांति ब्रह्म सनातनम् ।

नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम ॥३१॥

हे कुरुप्रेष्ठ, जो जन यज्ञ करके बचा हुआ अन्न भक्षण करते हैं वे जन सनातन ब्रह्म को पाते हैं । यज्ञरहित पुरुष को यह लोक नहीं है तो परलोक की क्या आशा ? ॥३१॥

एवं बहुविधा यज्ञा वितता, ब्रह्मणो मुखे ।

कर्मजान्विद्धि तान्सर्वानिवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे ॥३२॥

इस भाँति अनेक प्रकार के यज्ञ वेदद्वारा कहे गये हैं, वे सब कर्मज हैं, ऐसा तू जान कर मोक्ष को पावेगा ॥३२॥

श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परंतप ।

सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते ॥३३॥

हे परंतप, द्रव्यरूप साधन से सिद्ध होने वाले यज्ञ की अपेक्षा ज्ञानयज्ञ अत्यन्त श्रेष्ठ है क्योंकि हे पार्थ, सब कर्मों के फल का निचोड़ ज्ञान में होता है ॥३३॥

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया ।

उपदेक्ष्यंति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ॥३४॥

अर्जुन, तत्त्व जानने वाले ज्ञानीजन, दण्डवत् प्रणाम करने से बार-बार पूछने से और सेवा करने से तुझको यह ज्ञान देंगे, ऐसा ज्ञान ॥३४॥

यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पांडव ।

येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि ॥३५॥

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.
पाण्डव, इस ज्ञान को अपने मोह को नहीं
प्राप्त होगा; और सब प्राणियों को अपने में तथा मुझ
में अभेद से देखेगा ॥३५॥

अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः ।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि ॥३६॥
यदि तू सब पापियों की अपेक्षा अधिक पाप करने वाला
हो, तो भी इस ज्ञानरूपी नौका से पापरूपी समुद्र को सुख
से पार कर जायगा ॥३६॥

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन ।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा ॥३७॥
हे अर्जुन, जैसे जलता हुआ अग्नि काष्ठों को भस्म करता
है, ऐसे यह ज्ञानरूपी अग्नि संपूर्ण कर्मों को भस्म कर
देता है ॥३७॥

नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते ।
तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विदति ॥३८॥
ज्ञान के सदृश पवित्र इस लोक में दूसरी वस्तु नहीं है ।
कर्मयोग करने वाला समय पाकर अपने आप ही उस
(ज्ञान) को आत्मा में पाता है ॥३८॥

ज्ञान लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति ॥३६॥
जितेन्द्रिय, ज्ञान में निष्ठा करने वाला, श्रद्धालु ज्ञान को
पाता है । और ज्ञान को पाकर तुरन्त अतीव शान्ति को
प्राप्त होता है ॥३६॥

अज्ञश्चाश्रद्धधानश्च संशयात्मा विनश्यति ।

नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः ॥४०॥
जो अज्ञानी, श्रद्धा से हीन और सदा संशय करने वाला है
वह नाश को प्राप्त होता है । जिसका मन सर्वदा संशय में
रहता है उसको इस लोक और परलोक में सुख नहीं ॥४०॥

योगसंन्यस्तकर्माणं ज्ञानसंछिन्नसंशयम् ।

आत्मवंतं न कर्माणि निबध्नन्ति धनंजय ॥४१॥
हे धनंजय, योगरीति के अनुसार कर्म को त्याग करने
वाले, ज्ञान के द्वारा सब संदेहों को दूर करने वाले, प्रभाव-
रहित पुरुष को कर्म नहीं बांधते ॥४१॥

तस्मादज्ञानसंभूतं हृत्स्थं ज्ञानासिनात्मनः ।

छित्त्वेन संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत ॥४२॥
हे भारत, इसलिए अज्ञान से उत्पन्न हुआ जो तेरे हृदय

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust
में संशय है उसकी ज्ञानरूपा अस्त्र से काट, योग की आश्रय
कर और उठ ॥४२॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु-कर्मब्रह्मार्पणयोगो
नाम चतुर्थोऽध्यायः ॥४॥

पांचवां अध्यायः कर्मसंन्यास-योग

अर्जुन उवाच ।

संन्यासं कर्मणां कृष्ण पुनर्योगं च शंससि ।

यच्छ्रेय एतयोरेकं तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम् ॥१॥

अर्जुन बोला - हे कृष्ण, कर्मों का संन्यास अर्थात् त्याग
और (निष्काम) कर्मों का अनुष्ठान, इन दोनों की आप
प्रशंसा करते हो; परंतु इन दोनों में जो निश्चयपूर्वक
कल्याण करने वाला हो, वह एक कहें ॥१॥

श्रीभगवानुवाच ।

संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ ।

तयोस्तु कर्मसंन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते ॥२॥

भगवान् बोले संन्यास और कर्मयोग, ये दोनों मोक्ष को
देने वाले हैं । परन्तु उनमें कर्म के त्याग की अपेक्षा कर्म
का करना श्रेष्ठ है ॥२॥

निर्वृत्तः स नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्ट न काङ्क्षति ।

निर्वृद्धो हि महाबाहो सुखं बन्धात्प्रमुच्यते ॥३॥

जो किसी से द्वेष और किसी की अभिलाषा नहीं रखता वह पूरा संन्यासी है । हे महाबाहो, सुख तथा दुःख से छूटा हुआ वह अनायास बन्धन से मुक्त होता है ॥३॥

सांख्ययोगो पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः ।

एकमप्यास्थितः सम्यग्भयोर्विन्दते फलम् ॥४॥

सांख्य अर्थात् ज्ञानपूर्वक कर्म का त्याग (संन्यास) और योग (कर्मयोग) इन दोनों को अज्ञानी लोग अलग मानते हैं । किंतु विवेकी अलग नहीं मानते । इन दोनों में से किसी एक को भी भ्रू-भांति करने वाला दोनों के फल को पाता है ॥४॥

यत्सांख्यं प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते ।

एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति ॥५॥

जो मोक्षरुपी स्थान सांख्यी अर्थात् ज्ञाननिष्ठ संन्यासियों को मिलता है वही कर्मयोगियों को भी मिलता है । सांख्य तथा योग ये दोनों एक हैं ऐसा जो जानता है, वही जानी है ॥५॥

संन्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्नुमयोगतः ।

योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म न चिराधाधिगच्छति ॥६॥

महाबाहो, योग के बिना संन्यास की प्राप्ति दुर्लभ है,
(निष्काम कर्म) योगयुक्त (संन्यासी) शीघ्र ही
को पाता है ॥६॥

योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेंद्रियः ।

सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते ॥७॥

से युक्त, शुद्धचित्त, आत्मा को जीतने वाला,
इन्द्रिय, सब प्राणियों को समान देखने वाला पुरुष, कर्म
करता हुआ भी कर्मदोष से अलग रहता है ॥७॥

नैव किञ्चित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित् ।

पश्यन्शृण्वस्पर्शजिघ्रन्तश्ननाच्छन्स्वपन्श्वसन् ॥८॥

प्रलपन्विसृजन्गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि ।

इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन् ॥९॥

युक्त तत्त्वज्ञाता पुरुष, देखता, सुनता, स्पर्श करता,
ता, खाता, चलता, सोता, श्वास लेता, बोलता, मल-
का त्याग करता, ग्रहण करता, नेत्रादि को खोलता
र मुंदता हुआ भी यह मानता है कि इंद्रियां अपने-अपने
वर्षों में प्रवृत्त हैं, मैं कुछ नहीं करता हूं ॥८॥९॥

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि संगं त्यक्त्वा करोति यः ।

लिप्यते न पापेन पद्मपत्रमिदांभसा ॥१०॥

जो कर्मफल की आसक्ति छोड़ कर्मों को करता है
उन (कर्मों) को ब्रह्म के अर्पण कर देता है वह उस कर्म
पत्र के समान है जो जल में रहकर भी जल से
नहीं होता ॥१०॥

कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि ।

योगिनः कर्म कुर्वति संगं त्यक्त्वात्मशुद्धये ॥११॥

योगी लोग आत्मशुद्धि के निमित्त आपत्ति को
शरीर, मन, बुद्धि, अथवा केवल इंद्रियों से भी कर्म
हैं ॥११॥

युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शांतिमाप्नोति नैष्ठिकीम् ।

अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते ॥१२॥

योगी कर्मफल की वासना को छोड़, परमेश्वर में ति
कर मोक्ष रूप शांति को पाता है । योगहीन कर्म-फल
आसक्त हो बांधा जाता है ॥१२॥

सर्वकर्माणि शनसा संन्यस्यास्ते सुखं वशी ।

नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन्न कारवन् ॥१३॥

त को अपने अधीन रखने वाला पुरुष मन से सब कर्मों
त्याग कर, नौ द्वार वाले इस देहखी नगर में न तो
स्वयं करता न किसी के द्वारा कराता हुआ सुख से
वास करता है ॥१३॥

न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः ।
न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते ॥१४॥
परमेश्वर किसी के कर्तृत्व, कर्म और कर्मफल को नहीं
उत्पन्न करता, वह पूर्व के महान् फल देने वाला केवल
योजक है ॥१४॥

नादत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं विभुः ।
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जंतवः ॥१५॥
परमेश्वर किसी के पुण्य अथवा पाप को ग्रहण नहीं
करता । ज्ञान के ऊपर जो अज्ञान का परदा पड़ा है उससे
आणी मोह को प्राप्त होते हैं ॥१५॥

ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः ।
तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम् ॥१६॥
आत्मज्ञान द्वारा जिनका अज्ञान नष्ट हो गया है उनका
वह आत्मज्ञान ऐसे परमेश्वर के स्वरूप को साक्षात्

कराता है, जैसे सूर्य संपूर्ण जगत् को प्रकाशित है ॥१६॥

तद्बुद्धयस्तवात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः ।

गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः ॥१७॥

जिनकी परमेश्वर में बुद्धि, मन और निष्ठा है और सर्वदा उसमें तत्पर रहते हैं, वे ज्ञान के द्वारा सब को छोड़कर देहबन्धन से मुक्त होते हैं ॥१७॥

विद्याविनयसंपन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि ।

शुनि चैव श्वपाके च पडिताः समदर्शिनः ॥१८॥

ज्ञाननिष्ठ पुरुष, विद्या तथा विनय से सम्पन्न ब्राह्मण, गाय, हाथी, कुत्ता, और चांडाल, इनको समान दृष्टि देखते हैं ॥१८॥

इहैव तैजितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः ।

निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद्ब्रह्मणि ते स्थिताः ॥१९॥

जिनके मन में समता उत्पन्न हुई है, उन्होंने इसी लोक संसार जीत लिया है, क्योंकि दोषरहित जो परब्रह्म है सर्वत्र समान ही है । अतएव वे समदर्शी ब्रह्म में स्थित हैं ॥१९॥

न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम् ।

स्थिरबुद्धिरसंमूढो ब्रह्मविद्ब्रह्मणि स्थितः ॥२०॥

जो प्रिय वस्तु को पाकर प्रसन्न न हो और अप्रिय पाकर उद्वेग को न प्राप्त हो, वह निश्चय बुद्धि, मोहरहित, ब्रह्मवेत्ता ब्रह्म में स्थित है ॥२०॥

बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विदित्यात्मनि यत्सुखम् ।

स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षय्यमश्नुते ॥२१॥

समाविस्थ पुरुष बाहर स्पर्श करने वाले पदार्थों से चित्त-वृत्ति को रोक आत्मा में जो सुख पाता है, वही सुख ब्रह्म में अतःकरण को लगाने से समदर्शी को सर्वदा प्राप्त होता है ॥२१॥

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते ।

आद्यन्तवन्तः कौंतेय न तेषु रमते बुधः ॥२२॥

इन्द्रियों के स्पर्श से उत्पन्न होने वाले भोग दुःख के कारण हैं । क्योंकि वे कभी उत्पन्न होते हैं और कभी नष्ट हो जाते हैं । हे कौंतेय ! उनमें ज्ञानी आनन्द नहीं मानता ॥२२॥

शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक् शरीरविमोक्षणात् ।

कामक्रोधोद्वेगं स युक्तः स सुखी नरः ॥२३॥

जो पुष्प इसी लोक में शरीर त्याग के पहिले काम-क्रोध के वेग को सहता है, वही योगी और सुखी है ॥२३॥

योऽन्तःसुखोऽन्तरारामस्तथांतज्योतिरेव यः ।

स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति ॥२४॥

जो आत्मा में सुखी है और वहां ही रम रहा है तथा प्रकाशमान है वह ब्रह्मस्वरूप योगी ब्रह्म में लय को प्राप्त होता है ॥२४॥

लभंते ब्रह्मनिवर्णिमृषयः क्षीणकल्मषाः ।

छिन्नवैषा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः ॥२५॥

क्षीणपाप, संशय से मुक्त चित्त को अपने अधीन रखने वाले, सब प्राणियों के हित में तत्पर ऋषि (तत्त्व ज्ञानी) ब्रह्म में लीन होते हैं ॥२५॥

कामक्रोधवियुक्तानां यतीनां यतचेतसाम् ।

अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते विजितात्मनाम् ॥२६॥

काम तथा क्रोध से मुक्त, मन के वेग को रोकने वाले आत्मज्ञानी यतियों को सब ओर से मोक्ष प्राप्त होता है ॥२६॥

स्पर्शान्कृत्वा बहिर्बाह्याश्चक्षुश्चैवांतरे भ्रुवोः ।

प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यंतरचारिणौ ॥२७॥

यतेन्द्रियमनोबुद्धिर्मुनिर्मोक्षपरायणः ।

विगतेच्छाभयक्रोधो यः सदा मुक्त एव सः ॥२८॥

शब्द आदि बाहर के विषयों को दूर कर, दोनों भौहों के बीच में दृष्टि एकाग्र कर के नासिका के भीतर चलने वाले प्राण तथा अपान वायु को समान करके, इन्द्रियाँ मन और बुद्धि को अपने त्तु कर इच्छा भय, क्रोध को छोड़, मोक्ष को ही सर्वस्व मानने वाला, जो मुनि मनन-शील है वह जीवन्मुक्त है ॥२७॥॥२८॥

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम् ।

सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति ॥२९॥

हे अर्जुन, जो मुझे यज्ञ और तप का भोक्ता समझे पूर्ण लोक का स्वामी, सब प्राणियों का मित्र, मानता है वह पुरुष (मोक्षहरी) शान्ति को प्राप्त होता है ॥२९॥

इति श्रीमद् भगवद्गीता० कर्मसंन्यासयोगो नाम पञ्च-मोऽध्यायः ॥५॥

षष्ठ अध्यायः आत्म संयमयोग

श्रीभगवानुवाच

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः ॥

स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः ॥

भगवान् बोले—जो कर्मफल की इच्छा छोड़, करने कर्मों को करता है वही संन्यासी और योगी है । अग्निहोत्र अथवा लौकिक कर्मों को त्याग दिया है संन्यासी नहीं है ॥१॥

यं संन्यासमिति प्राहुर्योगं तं विद्धि पाण्डव ।

न ह्यसंन्यस्तसंकल्पो योगी भवति कश्चन ॥२॥

हे पाण्डु के पुत्र, जिसको संन्यास कहते हैं, उसे तू जान । क्योंकि फल, संकल्पों के त्याग किये बिना योगी नहीं होता ॥२॥

आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते ।

योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते ॥३॥

योग की इच्छा करने वाले मुनि का कर्म ही योगप्राप्ति का कारण कहा जाता है और योग-प्राप्ति के बाद शान्ति (शान्ति) ज्ञान का हेतु कहलाता है ॥३॥

सर्वसंकल्पसंन्यासी योगारूढस्तदोच्यते ॥४॥
जब मनुष्य विषय और कर्मों में आसक्त नहीं होता, तब
संपूर्ण अभिलाषाओं को छोड़ने वाला वह योगारूढ कहा
जाता है ॥४॥

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसावयेत् ।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ॥५॥
आत्मा से (स्व) आत्मा का उद्धार करें किन्तु उसे अधो-
गति को न जाने देवे । क्योंकि आत्मा का आत्मा ही बन्धु
है, और शत्रु भी ॥५॥

बन्धुरात्माऽऽत्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः ।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत् ॥६॥
जिसने विवेक के द्वारा अपने मन को वश कर लिया है
वह स्वयं अपना हितकारी है और जिसने आत्मा को नहीं
जीता उसका आत्मा ही शत्रु की भांति उसमें स्थित हो
रहा है ॥६॥

जितात्मनः प्रशान्तस्य परमात्मा समाहितः ।
शीतोष्णसुखदुःखेषु तथा मानापमानयोः ॥७॥

षष्ठ अध्यायः आत्म संयमयोग

श्रीभगवानुवाच

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः ॥

स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न वाक्त्रियः ॥

भगवान् बोले—जो कर्मफल की इच्छा छोड़, करने कर्मों को करता है वही संन्यासी और योगी है । नि अग्निहोत्र अथवा लौकिक कर्मों को त्याग दिया है संन्यासी नहीं है ॥१॥

यं संन्यासमिति प्राहुर्योगं तं विद्धि पाण्डव ।

न ह्यसंन्यस्तसंकल्पो योगी भवति कश्चन ॥२॥

हे पाण्डु के पुत्र, जिसको संन्यास कहते हैं, उसे तू जान । क्योंकि फल, संकल्पों के त्याग किये बिना योगी नहीं होता ॥२॥

आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते ।

योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते ॥३॥

योग की इच्छा करने वाले मुनि का कर्म ही योगप्राप्ति का कारण कहा जाता है और योग-प्राप्ति के बाद शान्ति (शान्ति) ज्ञान का हेतु कहलाता है ॥३॥

यदा हि नेन्द्रियायधु न केमस्वनुषज्जेत ।

सर्वसंकल्पसंन्यासी योगारूढस्तदोच्यते ॥४॥

जब मनुष्य विषय और कर्मों में आसक्त नहीं होता, तब संपूर्ण अभिलाषाओं को छोड़ने वाला वह योगारूढ कहा जाता है ॥४॥

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत् ।

आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ॥५॥

आत्मा से (स्व) आत्मा का उद्धार करें किन्तु उसे अघो-
गति को न जाने देवे । क्योंकि आत्मा का आत्मा ही बन्धु
है, और शत्रु भी ॥५॥

बन्धुरात्माऽऽत्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः ।

अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत् ॥६॥

जिसने विवेक के द्वारा अपने मन को बश कर लिया है
वह स्वयं अपना हितकारी है और जिसने आत्मा को नहीं
जीता उसका आत्मा ही शत्रु की भांति उसमें स्थित हो
रहा है ॥६॥

जितात्मनः प्रशान्तस्य परमात्मा समाहितः ।

शीतोष्णसुखदुःखेषु तथा मानापमानयोः ॥७॥

शरीर, मस्तक और ग्रीवा को निश्चल तथा सीधा रख के स्थिर हो, इधर उधर न देखता, अपनी नासिका के अग्र-भाग में दृष्टि दे, अन्तःकरण को शान्त कर, निर्भय, ब्रह्मचर्य में टिके मन को रोक, मुझमें चित्तवृत्ति लगाकर मुझको सर्वस्व मान योग में आरुढ़ रहे ॥१३॥१४॥

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी नियतमानसः ।

शान्तिं निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति ॥१५॥

इस भाँति सदा जो आत्मा को समाधि में युक्त करता हुआ योगी चित्त को अपने अधीन रखता है वह मुझमें स्थित मोक्षरूप शान्ति को पाता है ॥१५॥

नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चंकान्तमनश्नतः ।

न चातिस्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन ॥१६॥

हे अर्जुन, जो अधिक भोजन करता है, अथवा भोजन का अत्यन्त परित्याग कर देता है । जो बहुत निद्रा करता है, अथवा जागता ही रहता है उसको योग नहीं प्राप्त होता ॥१६॥

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु ।

युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा ॥१७॥

उचित आहार और विहार से रहता है, कर्मों में योग्य
ति से वर्तता है और योग्य काल में सोता तथा जागता
उस पुरुष का योगाभ्यास उसके दुःख को मिटा देता
॥१७॥

यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते ।

निःस्पृहः सर्वकामेभ्यो युषत इत्थुच्यते तदा ॥१८॥

व संयम को प्राप्त हुआ चित्त अपने आत्मा में ही टिकता
। और संपूर्ण कामनाओं से निवृत्त हो जाता है, तब वह
रुष युक्त (योगी) कहा जाता है ॥१८॥

यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता ।

योगिनो यतचित्तस्य युञ्जतो योगमात्मनः ॥१९॥

जैसे वायु-रहित स्थान में रक्खा हुआ दीप निश्चल
हता है, वैसे अपने चित्त को सावधान कर, आत्मयोग
करता हुआ योगी निश्चल होता है ॥१९॥

यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया ।

यत्र चैवात्मनात्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति ॥२०॥

जिस अवस्था में योगाभ्यास के द्वारा रोका हुआ चित्त
विषयों को प्राप्त करे और जहाँ शुद्ध अन्तःकरण से आत्मा

(ज्योतिःस्वरूप) को देखकर आत्मा में संतोष प्र करता है ॥२०॥

सुखमात्यन्तिकं यत्तद्बुद्धिप्राह्यमतीन्द्रियम् ।

वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः ॥२१॥

जिस दिशा में सुख रहित, केवल बुद्धि से ही जानने योग्य, अनन्त आनन्द को पावे, और जहाँ पर सि होकर मनुष्य अपने स्वरूप से च्युत नहीं हो ॥२१॥

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः ।

यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते ॥२२॥
जिस लाभ को पाकर उससे अधिक दूसरे लाभ को माने, और जिसमें स्थिर हो अत्यन्त बड़े दुःख से भी विचलित हो ॥२२॥

तं विद्याद्दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम् ।

स निश्चयेन योक्तव्यो योगो निर्विण्णचेतसा ॥२३॥
जिस अवस्था में लेशमात्र दुःख नहीं, उसे योग जानो वह उद्विग्नता रहित योग निश्चय पूर्वक अभ्यास करने योग्य है ॥२३॥

संकल्पप्रभवान्कामास्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः ।

मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समंततः ॥२४॥

कल्प से उत्पन्न होने वाली सब कामनाओं को छोड़
और मन ही से संपूर्ण इन्द्रियों को चारों ओर से रोककर
योगाभ्यास करे ॥२४॥

शनैः शनैरुपरमेद्बुद्ध्या धृतिगृहीतया ।

आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत् ॥२५॥

धैर्य के द्वारा बुद्धि को स्वाधीन कर, धीरे-धीरे विषयों
से विश्राम प्राप्त करे और भलीभांति मन को आत्मा में
निश्चल कर किसी पदार्थ की चिन्ता न करे ॥२५॥

यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम् ।

ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत् ॥२६॥

स्वभाव ही से चपलता के कारण अस्थिर मन को जिधर-
जिधर दौड़ता फिरे, वहां-वहां से उसे रोक अपने आत्मा
में स्थिर करे ॥२६॥

प्रशान्तमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम् ।

उपैति शान्तरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम् ॥२७॥

काम, क्रोध आदि से उत्पन्न होने वाले रजोगुण से जिसका
मन विमुक्त हो गया है, उस शान्तचित्त, निष्पाप ब्रह्म-
स्वरूप योगी को उत्तम सुख प्राप्त होता है ॥२७॥

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम् ।

अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते ॥३५॥

भगवान् बोले—हे महाबाहो, निःसंदेह मन अति चंचल और कठिनतापूर्वक वश करने के योग्य है । परन्तु कौन्तेय, वह अभ्यास और वैराग्य से वश किया जाता है ॥३५॥

असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः ।

वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः ॥३६॥

मन को न जीतने वाले को योग अत्यन्त दुर्लभ है, ऐसा मेरा निश्चय है । परन्तु मन को वश करने का यत्न करने वाले पुरुष को उपाय द्वारा प्राप्त हो सकता है ॥३६॥

अर्जुन उवाच

अयतिः श्रद्धयोपेतो योगाच्चलितमानसः ।

अप्राप्य योगसंसिद्धिं कां गतिं कृष्ण गच्छति ॥३७॥

अर्जुन बोला—हे कृष्ण, मनोवृत्ति को स्वाधीन न करने वाला, श्रद्धायुक्त, योग से चलित हुआ पुरुष योग की सिद्धि को न पाकर किस गति को पाता है ॥३७॥

कच्चिन्तोभयविभ्रष्टश्छिन्नाभ्रमिव नश्यति ।

अप्रतिष्ठो महाबाहो विमूढो ब्रह्मणः पथि ॥३८॥

हे महाबाहो, क्या वह योगी कर्ममार्ग तथा योगमार्ग से भ्रष्ट हुआ, ब्रह्मप्राप्ति के मार्ग से विचलित हुआ, वायु-से छितरे हुए मेघ की नाईं नष्ट हो जाता है, अथवा नहीं नष्ट होता ॥३८॥

एतन्मे संशयं कृष्ण छेत्तुमर्हस्यशेषतः ।

त्वदन्यः संशयस्यास्य छेत्ता न ह्युपपद्यते ॥३९॥

हे कृष्ण, इस संशय सन्देह को तुम दूर करने के योग्य हो । अन्य कोई दूसरा इस संशय को दूर करने वाला नहीं दीक्षता ॥३९॥

श्रीभगवानुवाच

पार्थ नैवेह तस्मिन् विनाशस्तस्य विद्यते ।

सहि कल्याणकृत्कश्चिद्गुर्गतिं तात गच्छति ॥४०॥

भगवान् बोले— हे पार्थ, इस लोक अथवा परलोक में योगभ्रष्ट का नाश नहीं है । क्योंकि हे तात, शुभ कर्म करने वाला कोई व्यक्ति निन्द्यगति को नहीं पाता ॥४०॥

प्राप्य पुण्यकृतांल्लोकानुषित्वा शाश्वतीः समाः ।

शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते ॥४१॥

योगभ्रष्ट पुरुष, पुण्य करने वालों के लोक को पाकर
अनेक वर्ष निवास कर, अति पवित्र लक्ष्मीवानों के पास
उत्पन्न होता है ॥४१॥

अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम् ।

एतद्वि दुर्लभतरं लोके जन्म यदीदृशम् ॥४२॥

अथवा, वह बड़े योगनिष्ठ बुद्धिमानों के ही गृह में जन्म
है । ऐसा जन्म पाना लोक में अत्यन्त दुर्लभ है ॥४२॥

तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम् ।

यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनन्दन ॥४३॥

हे कुरुनन्दन, वह योगियों के कुल में उत्पन्न होकर पवित्र
देह से अभ्यास किये हुए बुद्धिसंयोग अर्थात् आत्मज्ञान
को पाता है, और फिर भी सिद्धि के लिए यत्न करता
है ॥४३॥

पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः ।

जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते ॥४४॥

पहिले जन्म में किए योगाभ्यास के बल से अवश्य ही
मोक्ष पाता है । योग के जानने की इच्छा होने के कारण

वह वेदोक्त कर्मों के फल से अधिक फल पाता है ॥४४॥

प्रयत्नाद्यतमानस्तु योगी संशुद्धकिल्बिषः ।

अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम् ॥४५॥

अतियत्न से योगाभ्यास करने वाला, पापों से मुक्त हो, अनेक जन्मों में संचय किये हुए योग के द्वारा ज्ञानसिद्धि पाकर, बाद में उत्तम गति को प्राप्त होता है ॥४५॥

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः ।

कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन ॥४६॥

हे अर्जुन, तपस्या करने वाले, ज्ञाननिष्ठ और अग्निहोत्र आदिक कर्म करने वाले, जो पुरुष हैं उनमें योगी श्रेष्ठ है इसलिए तू योगी हो ॥४६॥

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना ।

श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः ॥४७॥

संपूर्ण योगियों के मध्य में जो श्रद्धायुक्त पुरुष मुझां चित्तवृत्ति देकर मुझको भजता है उसको मैं सबकी अपेक्षा अधिक श्रेष्ठ मानता हूँ ॥४७॥

इति श्रीमद्भगवद्गीता, आत्मसंयमयोगो नाम

षष्ठोऽध्यायः ॥६॥

सप्तमं अध्यायः ज्ञान-विज्ञानयोग

श्रीभगवानुवाच

मय्यासक्तमनाः पार्थ योगं युञ्जन्मदाश्रयः ।

असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु ॥१॥

भगवान् बोले—हे पार्थ, मुझ में मन लगाकर, मेरा आश्रय करके, योग करता हुआ तू जिस भांति पूर्णरूप निःसंदेह मुझ को जानेगा वह सुन ॥१॥

ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिव दक्ष्याम्यशेषतः ।

यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते ॥२॥

शास्त्रीय ज्ञान और अनुभूत ज्ञान इन दोनों के विषय में तुम्हें संपूर्ण कहूंगा, जिसको जानकर फिर इस लोक कोई वस्तु जानने के योग्य बाकी नहीं रहती ॥२॥

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये ।

यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः ॥३॥

हजारों मनुष्यों के बीच में कोई एक सिद्धि के लिए यत्न करता है और सिद्धि को प्राप्त यत्न करते हुआं में भी कोई एक मुझको यथार्थ जानता है ॥३॥

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च ।

अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ॥४॥

Digitized by eGangotri and Sankar
भूमि, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहंकार,
इस भांति यह आठ प्रकार की मेरी प्रकृति है ॥४॥

अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम् ।

जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत् ॥५॥

हे महाबाहो, यह आठ प्रकार की अपरा (निकृष्ट) प्रकृति है । इससे दूसरी मेरी परा (उत्कृष्ट) प्रकृति है, जिसने जीवरूप, इस जगत् को धारण किया है ॥५॥

एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय ।

अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा ॥६॥

इन दोनों प्रकृतियों को सब प्राणियों की उत्पत्ति-भूमि जान । मैं संपूर्ण जगत् को उत्पन्न करने वाला तथा नाश करने वाला हूँ ॥६॥

सत्तः परतरं नान्यत्किंचिदस्ति घनंजय ।

मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ॥७॥

हे घनंजय, मुझ से अन्य और कोई वस्तु नहीं है, सूत में मणियों की भांति मुझ में यह सारा जगत् पिरोया हुआ है ॥७॥

रसोऽहमस्मि कोन्तेय प्रभास्मि शशिसूर्ययोः ।

प्रणवः सर्ववेदेषु शब्दः खे पौरुषं नृषु ॥८॥

हे कोन्तेय, सब जलों के विषयों में मैं रस हूँ । सूर्य तब चन्द्रमा के बीच जो प्रभा है वह मैं हूँ । संपूर्ण वेदों में ओंकार, आकाश में शब्द और पुरुषों में पौरुष (पराक्रम) मैं हूँ ॥८॥

पुण्यो गन्धः पृथिव्यां च तेजश्चास्मि विभावसौ ।

जीवनं सर्वभूतेषु तपश्चास्मि तपस्विषु ॥९॥

भूमि में उत्तम गन्ध, अग्नि में तेज, सब प्राणियों में जीवन और तपस्वियों में तपश्चर्या मैं हूँ ॥९॥

बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सत्तातनम् ।

बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम् ॥१०॥

हे पार्थ, मुझको सारे प्राणियों का सत्तातन और सर्वकाज में रहने वाला बीज अर्थात् उत्पत्तिस्थान जान । बुद्धिमानों की बुद्धि और तेजस्वियों का तेज (ओज) मैं हूँ ॥१०॥

बलं बलवतामस्मि कामरागविर्वर्जितम् ।

धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ ॥११॥

हे भरत-श्रेष्ठ, काम और राग से रहित बलवानों में बल

(पराक्रम) मैं हूँ। और धर्म के अनुकूल प्राणियों में काम मैं हूँ ॥११॥

ये त्रैलोक्य सात्त्विका भावा राजसास्तामसाश्च ये ।

सत्त एवेति तान्विद्धि न त्वहं तेषु ते मयि ॥१२॥

जो सात्त्विक (सत्त्वगुण से उत्पन्न) राजस (रजोगुण से उत्पन्न) और तामस (तमोगुण से उत्पन्न) भाव अर्थात् पदार्थ हैं, वे सब मुझसे उत्पन्न हैं ऐसा तू जान; परन्तु उनमें मैं नहीं रहता, वे मुझमें रहते हैं ॥१२॥

त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत् ।

मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमध्ययम् ॥१३॥

तीनों गुणों से उत्पन्न होने वाले पदार्थों से मोहित अर्थात् अज्ञान को प्राप्त यह संपूर्ण जगत्, इन तीनों गुणों से अलग तथा अव्यय (नाशरहित) मुझको नहीं जानता ॥१३॥

देवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया ।

मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ॥१४॥

यह देवी अर्थात् अद्भुत त्रिगुणात्मक मेरी माया, अत्यन्त दुस्तर है। जो मुझको अनन्यभाव से भजते हैं, वे इस माया-रूप समुद्र को तरते हैं ॥१४॥

न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः ।

माययाऽपहतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः ॥१५॥

दुराचारी, मूढ तथा वे जन, जिनका माया से ज्ञान नष्ट हो गया है जो हिंसा, मिथ्या-भाषण आदि आसुर भावों से युक्त, अधम हैं, वह मुझको नहीं पाते ॥१५॥

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन ।

प्राप्तो जिज्ञासुरर्णवी ज्ञानी च भरतर्षभ ॥१६॥

हे भरतश्रेष्ठ अर्जुन, पीडित, जिज्ञासु, अर्थ को चाहने वाला, और ज्ञानी, ये चार प्रकार के पुण्यवान् जन मुझको भजते हैं ॥१६॥

तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते ।

प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः ॥१७॥

उन में, सदा मुझ में एकाग्रचित्त और केवल मेरी भक्ति करने वाला ज्ञानी पुरुष श्रेष्ठ है, क्योंकि मैं ज्ञानी को अत्यन्त प्यारा हूँ, और वह मुझको अत्यन्त प्यारा है ॥१७॥

उवाचः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम् ।

आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम् ॥१८॥

मेरी आत्मा ही है, क्योंकि वह मुझ में चित्तवृत्ति दे, मुझ को ही सर्वोत्तम गति मान मेरा आश्रय करता है ॥१८॥

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते ।

वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः ॥१९॥

अनेक जन्मों के बाद, वासुदेव ही सर्वस्व हैं, इस बुद्धि से ज्ञानी पुरुष मुझ को भजता है, परन्तु ऐसा महात्मा-पुरुष अत्यन्त दुर्लभ है । १९॥

कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः ।

तं तं नियममास्थाय प्रकृत्या नियताः स्वया ॥२०॥

उन उन कामनाओं से जिनका ज्ञान नष्ट हुआ है ऐसे पुरुष अन्य देवताओं को भजते हैं । और अपने स्वभाव से उन-उन नियमों का अनुसरण करके बद्ध होते हैं ॥२०॥

यो यो यां यां तनुं भवतः श्रद्धयाऽर्चितुमिच्छति ।

तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम् ॥२१॥

जो मनुष्य जिस-जिस देवता के विषय में भक्ति रख श्रद्धा से आराधना करने की इच्छा करता है उस उसकी उस-उस देवता में श्रद्धा दृढ़ करता हूँ ॥२१॥

स तथा श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते ।

लभते च ततः कामान्मयैव विहितान्हि तान् ॥२२॥

वह उस श्रद्धा से युक्त उस इष्टदेवता का आराधन करता है और मेरे बनाये हुए हित वाशों को पाता है ॥२२॥

अन्तवत्तु फलं तेषां तद्भवत्यल्पमेधसाम् ।

देवान्देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि ॥२३॥

परन्तु उन मन्दमतियों का फल नाशवान् (विनाशी) है । देवताओं के आराधन करने वाले उनको मिलते हैं और मेरे भक्तजन मुझको प्राप्त होते हैं ॥२३॥

अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः ।

परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम् ॥२४॥

मेरे नित्य और अत्युत्तम स्वरूप को न जानकर मन्द-बुद्धि-लोग, मुझ सूक्ष्म को स्थूल (प्रकट) मानते हैं ॥२४॥

नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः ।

मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम् ॥२५॥

योगमाया से आच्छादित हुआ मैं सबको नहीं देखता हूँ । यह मूढलोक मुझ अनादि तथा अविनाशी को नहीं जानता ॥२५॥

वेदाहं समतीतानि वर्तमानानि चार्जुन ।

भविष्याणि च भूतानि मां तु वेद न कश्चन ॥२६॥

हे अर्जुन, मैं भूत, वर्तमान और भविष्य होने वाले स्थावर जंगम पदार्थों को जानता हूँ, परन्तु मुझको कोई नहीं जानता ॥२६॥

इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वन्द्वमोहेन भारत ।

सर्वभूतानि संमोहं सर्गे यान्ति परंतप ॥२७॥

हे परंतप भारत, इच्छा और द्वेष से उत्पन्न होने वाले सुख दुःख से संपूर्ण प्राणी सृष्टिकाल में मोह को प्राप्त होते हैं ॥२७॥

येषां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम् ।

ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढव्रताः ॥२८॥

परन्तु जिन पुण्यकर्मियों के पाप नष्ट हो गये हैं वे सुख दुःखादि के मोह से छूट, दृढ निश्चय से मुझको भजते हैं ॥२८॥

जरामरणमोक्षाय मामाश्रित्य यतन्ति ये ।

ते ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्नमध्यात्मं कर्म चाखिलम् ॥२९॥

जो बुढ़ापा और मृत्यु के दूर करने के अर्थ मेरा आश्रय

लेकर यत्न करते हैं वे पुरुष, परब्रह्म, आत्मज्ञान और
संपूर्ण कर्म को जानते हैं ॥२६॥

साधिभूताधिदेवं मां साधियज्ञं च ये विदुः ।

प्रयाणकालेऽपि च मां ते विदुर्युक्तचेतसः ॥३०॥

जो लोग अधिभूत, अधिदेव और अधियज्ञ के सहित मुरु
को जानते हैं, वे समाधिनिष्ठ पुरुष, मरणकाल में भी
मुक्तको जानते हैं ॥३०॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ज्ञानविज्ञानयोगो नाम
सप्तमोऽध्यायः ॥७॥

अष्टम अध्यायः अक्षर-ब्रह्मयोग

अर्जुन उवाच

किं तद्ब्रह्म किमध्यात्मं किं कर्म पुरुषोत्तम ।

अधिभूतं च किं प्रोक्तमधिदेवं किमुच्यते ॥१॥

अर्जुन बोला—हे पुरुषोत्तम, वह ब्रह्म क्या है, अध्यात्म
किसको कहते हैं, कर्म क्या है, अधिभूत क्या और अधिदेव
को क्या कहा जाता है ? ॥१॥

अधियज्ञः कथं कोऽत्र देहेऽस्मिन्मधुसूदन ।

प्रयाणकाले च कथं ज्ञेयोऽसि नियतात्मभिः ॥२॥

हे मधुसूदन, इस देह के बीच में अधियज्ञ (अविष्ठाता) कैसा है और कौन-सा है ? मृत्यु के समय में स्थिर चित्त वाले पुरुषों द्वारा तुम किस उपाय से जाने जाते हो ? ॥२॥

श्रीभगवानुवाच ।

अक्षरं ब्रह्म परमं स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते ।

भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः ॥३॥

भगवान् बोले—जो अक्षर अर्थात् किसी काल में विकार को न प्राप्त हो, वह परब्रह्म है । जीवों के स्वरूप द्वारा प्रकट होने वाला जो उनका स्वभाव है वह अध्यात्म कहा जाता है । संपूर्ण जगत् की उत्पत्ति और वृद्धि करने वाला जो आचरण है उसे कर्म कहते हैं ॥३॥

अधिभूतं क्षरो भावः पुरुषश्चाविदैवतम् ।

अधियज्ञोऽहमेवात्र देहे देहभृतां वर ॥४॥

संपूर्ण प्राणियों का आश्रय ले ठहरने वाला नाशवान् भाव अधिभूत कहलाता है । संपूर्ण विश्वस्वरूप जो विराट-पुरुष है, उसे अविदैवत अर्थात् सब देवताओं के मध्य में श्रेष्ठ, देव कहिये । और, हे देहधारियों में श्रेष्ठ, इसी देह में मैं अधियज्ञ अर्थात् संपूर्ण यज्ञों से उत्कृष्ट यज्ञ हूँ ॥४॥

अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम् ।

यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः ॥५॥

जो अन्तकाल में मेरा ध्यान करता हुआ शरीर त्याग करता है वह निःसंदेह मेरे स्वरूप को प्राप्त होता है ॥५॥

यं यं वाऽपि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम् ।

तं तमेवंति कीन्तेय सदा तद्भावभावितः ॥६॥

हे कीन्तेय, इतना ही नहीं है; जो जिस पदार्थ में बद्ध हुआ मरणकाल में उसका स्मरण करता शरीर को छोड़ता है, वह उसी को पाता है ॥६॥

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च ।

मय्यपितमतोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम् ॥७॥

इसलिए सब काल में मुझमें मन तथा बुद्धि को लगा मेरा चिन्तन कर, और युद्ध कर, मुझको अवश्य प्राप्त होगा; इसमें कोई संदेह नहीं ॥७॥

अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नान्यगामिना ।

परमं पुरुषं दिव्यं याति पार्थानुचितयन् ॥८॥

हे पार्थ, जो पुरुष अपने चित्त को दूसरी तरफ न भटकने देकर एकाग्र होकर उस दिव्य परम पुरुष (परमेश्वर)

चिन्तन करता है वह उसी को प्राप्त होता है ।
 पुराणमनुशासितारमणोरणीयासमनुस्मरेद्यः ।
 सर्वस्य धातारमचिन्त्यरूपमादित्यवर्णं तमसः परस्तात् ॥६॥
 प्रयाणकाले मनसाचलेन भक्त्या युक्तो योगवलेन चैव ।
 भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक् स तं परं पुरुषमुपैति
 दिव्यम् ॥१०॥

मरणकाल में मन को स्थित कर भवित-युक्त हो
 योगाभ्यास के बल से दोनों भौहों के मध्य भाग में प्राण
 को भलीभाँति रखकर सर्वज्ञ, अनादि, संपूर्ण जगत् के
 शिक्षक, सूक्ष्म से भी सूक्ष्मतर, सबके पोषक, अचिन्तनीय-
 स्वरूप, सूर्य के सदृश प्रकाशमान, तत्त्वगुण से अलग, परम
 पुरुष (परमेश्वर) का स्मरण करता है वह उसको प्राप्त
 होता है ॥६॥ ॥१०॥

यदक्षरं वेदविदो वदन्ति विशन्ति यद्यतयो वीतरागाः ।
 यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्तपेन संग्रहेण प्रवक्ष्ये ॥११॥
 जिस पदार्थ को वेद के जानने वाले पुरुष अक्षर
 (अविनाशी) कहते हैं और जिसमें विरक्त यतिजन प्रविष्ट
 होते हैं, जिसकी इच्छा करने वाले ब्रह्मचर्य में रहते हैं,
 उसको मैं तुझसे संक्षेप से कहता हूँ ॥११॥

सर्वद्वाराणि सम्यक् मनो हृदि निरुध्य च ।

मूढन्याधायात्मनः प्राणमास्थितो योगधारणाम् ॥

श्रोमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन् ।

यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम् ॥११॥

जो इन्द्रियरूप संपूर्ण द्वाओं को रोक, मन को अपने स्थान में निश्चल कर, निज प्राण-वायु को मुर्धा अर्थात् ब्रह्मा में लेकर योगाभास में निष्ठ मेरे स्मरण-पूर्वक, निज ब्रह्माचार 'ॐ' अक्षर का उच्चारण करता हुआ देह छोड़ता है, वह मोक्षरूप उत्तम गति को प्राप्त होता है ॥११॥ ॥१२॥

अनन्यचेताः सततं ध्यो मां स्मरति नित्यशः ।

तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः ॥१४॥

हे पार्थ, अनन्यवृत्ति से सर्वदा जो मेरा स्मरण करता उस निरंतर सावधान योगी को मैं सहज सुलभ हूँ ॥१४॥

माभुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम् ।

नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां वताः ॥१५॥

मुझको पाकर परम सिद्धि को प्राप्त हुए महात्मा लोग दुःखमय क्षणभंगुर पुनर्जन्म को फिर नहीं पाते ॥१५॥

आ ब्रह्मभुवनालोकाः पुनरावतिनोऽर्जुन ।

मानुषेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते ॥१६॥

अर्जुन, ब्रह्म लोकार्पयन्त जितने लोक हैं वे सब उत्पत्ति
मा नाशवाले हैं । परन्तु, हे कौन्तेय, मुझको पाने वाले
फिर जन्म नहीं होता ॥१६॥

सहस्रयुगपर्यन्तमहर्षद्ब्रह्मणो विदुः ।

रात्रि युगसहस्रां तां तेऽहोरात्रविदो जनाः ॥१७॥

युग, त्रेता, द्वापर और कलियुगरूप हजार महायुगों
ब्रह्मा का एक दिन होता है और उतने ही कालपर्यन्त
ह्या की रात्रि होती है, ऐसा जो जानते हैं वे अहोरात्र
दिनरात्रि) के जानने वाले हैं ॥१७॥

अव्यक्ताव्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे ।

रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके ॥१८॥

ह्यदिन के प्रारम्भ में अर्थात् अप्रकट जो ब्रह्मा की
व्यक्त स्वरूप व्यवस्था से स्थावरजंगमरूप सम्पूर्ण व्यक्त
पदार्थों व जनों का प्रादुर्भाव होता है और रात्रि के
अगमन में उसी अव्यक्त में सब (व्यक्तियाँ) लीन हो
जाती हैं ॥१८॥

भूतग्रामः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते ।

राज्यागमेऽवशः पार्थ प्रभवत्यहरागमे ॥१९॥

यह प्राणियों का वर्ग बारंबार उत्पन्न हो मात्र के आ
में नाश को प्राप्त होता है और हे पार्थ, दिन के अ
में कर्म के वश ही उदित होता है ॥१९॥

परस्तरमात्तु भावोऽन्योऽव्यक्तो व्यक्तात्सनातनः ।

यः स सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति ॥२०॥

परन्तु जो उस व्यक्त (प्रकट) से अतिरिक्त, सदा
वाला, अव्यक्त, भाव अर्थात् पदार्थ उत्कृष्ट है;
सम्पूर्ण प्राणियों के नष्ट हो जाने पर भी नहीं
होता ॥२०॥

अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम् ।

यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं सम ॥२१॥

जो अव्यक्त है, उसे अक्षर अर्थात् अविचारी कहा
उसको परमगति कहते हैं, उस परमगति (मेरे उ
ग्राम) को पाकर मनुष्य फिर संसार को नहीं आते ॥२१॥

पुरुषः स परः पार्थ भक्ष्या लभ्यस्त्वनन्यया ।

यस्यान्तःस्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम् ॥२२॥

हे पार्थ, वह परम पुरुष अनन्य भक्ति से प्राप्त होता है, जिसके अन्तर्गत सारे प्राणी टिके हैं और जिसने इस जगत् को व्याप्त कर रखा है ॥२२॥

यत्र काले त्वनावृत्तिमावृत्ति चैव योगिनः ।

प्रयाता यांति तं कालं वक्ष्यामि भरतर्षभ ॥२३॥

हे भरतश्रेष्ठ कौन से काल में शरीर त्याग करने से योगी लोग पुनर्जन्म को नहीं प्राप्त होते, और कौन से में शरीर त्याग कर दूसरा जन्म पाते हैं, उस काल के विषय में तुझसे मैं कहता हूँ ॥२३॥

अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम् ।

तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः ॥२४॥

अग्नि, ज्योति, दिन, शुक्लपक्ष, उत्तरायण के छे महीने, इनके बीच प्रयाण करने वाले ब्रह्मविद् ब्रह्म को प्राप्त होते हैं ॥२४॥

धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः षण्मासा दक्षिणायनम् ।

तत्र चांद्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्तन्ते ॥२५॥

धूम (जिस रास्ते में धूमाग्निमानो देवता है) रात्रि, कृष्ण-पक्ष, दक्षिणायन के छे महीने: इनके मध्य गमन करने

वाले योगी चन्द्रमा की ज्योति को पहुंचते हैं और लीट आते हैं ॥२५॥

शुक्लकृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वते मते ।

एकया यात्यनावृत्तिमन्ययाऽऽवर्तते पुनः ॥२६॥

शुक्ल कृष्ण के भेद से जगत् की सदा दो गतियां मार्ग हैं, एक शुक्ल गति से चलने वालों को मोक्ष प्राप्त होता है और दूसरी (कृष्णपक्ष गति) से चलने वाले संसार में लीटकर आते हैं ॥२६॥

नन्ते सृती पार्थ जानन्योगी मुह्यति कश्चन ।

तस्मात्सर्वेषु कालेषु योगयुक्तो भवार्जुन ॥२७॥

हे पार्थ, इन दोनों मार्गों को जानने वाला कोई योगी मोह नहीं पाता, इस कारण हे अर्जुन, तू सदा योगयुक्त हो ॥२७॥

वेदेषु यज्ञेषु तपसु चैव

दानेषु यत्पुण्यफलं प्रदिष्टम् :

अत्येति तत्सर्वमिदं विदित्वा

योगी परं स्थानमुपैति चाद्यम् ॥२८॥

गी पुरुष, यह सब जानकर वेद, यज्ञ, तप और दान में

पुण्यफल कहा हुआ है, उससे अधिक पुण्यफल को पाता
और सर्वोत्कृष्ट आद्यस्थान को पहुँचता है ॥२८॥
इति श्री बद्धभगवद्गीता० योगशास्त्रं ऽक्षरब्रह्मयोगो
नामाष्टमोऽध्यायः ॥८॥

अथ नवमोऽध्यायः राजावेद्या-राजगुह्य योग
श्रीभगवानुवाच

इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे ।
ज्ञान विज्ञानसहितं यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ॥१॥
भगवान् बोले -- तुझ में अवज्ञा द्वि नहीं है, इस कारण
ह अतिगुप्त शास्त्रीय ज्ञान और अनुभवज्ञान तुझसे
हता हूँ, जिसको जानकर तू अशुभ से छूटेगा ॥१॥

राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम् ।
प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्तुमव्ययम् ॥२॥

ह सब विद्याओं में श्रेष्ठ विद्या, संपूर्ण गोपनीयों में
गोपनीय वस्तु, परम पुनीत, उत्तम, प्रत्यक्ष फलदायक,
अयुक्त, सुखपूर्वक आचरण करने के योग्य और नाश
रहित है ॥२॥

अथ हृदयानाः पुरुषा धर्मस्यास्य परंतप ।

अप्राप्य मां निवर्तन्ते मृत्युससारवर्त्मनि ॥३॥

हे परंतप, इस धर्म के विषय में श्रद्धा न करने वाले पुरुष मुझको न प्राप्त होकर जन्म-मरणयुक्त संसार मार्ग में लोटते हैं ॥३॥

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना ।

मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः ॥४॥

अव्यक्तरूप से मैंने इस सारे जगत् को व्याप्त कर रखा है, और मुझ में संपूर्ण प्राणी वर्तमान हैं, परंतु मैं उनमें नहीं हूँ ॥४॥

न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम् ।

भूतभृन्न च भूतस्थो समात्मा भूतभावनः ॥५॥

और वे मेरे विषय में नहीं, ऐसा मेरा योगैश्वर्य देख, मेरा आत्मा सारे प्राणियों का आधार और सबका पालन करने वाला है तो भी उनसे पृथक् हूँ ॥५॥

यथाकाशस्थितो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान् ।

तथा सर्वाणि भूतानि मत्स्थानीत्युपधारय ॥६॥

जैसे आकाश में सदा विचरने वाला वायु सदा आकाश

में स्थिर है वैसे सारे प्राणी मुझ में स्थित होकर भी मुझ से अलग हैं, ऐसा तू जान ॥६॥

सर्वभूतानि कौन्तेय प्रकृति यान्ति मामिकाम् ।

कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम् ॥७॥

हे कौन्तेय, प्रलयकाल में संपूर्ण प्राणी मेरी प्रकृति में लय होते हैं और कल्प के आरम्भ में फिर मैं उनको उत्पन्न करता हूँ ॥७॥

प्रकृति स्वामवष्टम्य विसृजामि पुनः पुनः ।

भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात् ॥८॥

प्रकृति को स्वाधीन करके स्वभाव से अविद्या-दोषों के बन्धीभूत संपूर्ण भूतवर्ग को मैं बारंबार उत्पन्न करता हूँ ॥८॥

न च मां तानि कर्माणि निवध्नन्ति घनंजय ॥

उदासीनवदासीनमसक्तं तेषु कर्मसु ॥९॥

तो भी हे घनंजय, मुझ को वे सृष्टि आदि के रचना कर्म नहीं बांधते क्योंकि उनमें मैं आतृक्त नहीं होता, केवल उदासीन वृत्ति से प्रवृत्त होता हूँ ॥९॥

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम् ।

हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते ॥१०॥

हे कौन्तेय, प्रकृति मेरे आश्रय से सारे चराचर को उत्पन्न करती है इसी कारण सम्पूर्ण जगत् बारंबार उदय को प्राप्त होता है ॥१०॥

अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम् ।

परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम् ॥११॥

मेरे तत्त्वों को न जानने वाले मूढजन, मुझ मनुष्यरूप धारण करने वाले संपूर्ण प्राणियों के स्वामी को न जानकर मेरी अवज्ञा करते हैं ॥११॥

मोघाशा मोघकर्माणो मोघज्ञाना विचेतसः ।

राक्षसीमासुरीं चैव प्रकृतिं मोहिनीं श्रिताः ॥१२॥

ऐसे मूढजनों के अभिलाष, कर्म तथा ज्ञान निष्फल हैं और बुद्धि विकृष्ट है, जो मोह उत्पन्न करने वाले राक्षसी और आसुरी भाव को प्राप्त हैं ॥१२॥

महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः ।

भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम् ॥१३॥

परंतु हे पार्थ, देवस्वभाव के महात्मा लोग एकाग्रचित्त हो, मुझको सारे प्राणियों के मूल और अविनाशी जानकर भजते हैं ॥१३॥

नमस्यंतश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते ॥१०॥

सदा मेरा कीर्तन, पूजन और वन्दन करते हुए एकाम्र-
चित्त, दृढव्रत पुरुष मुझको भक्ति से सेवते हैं ॥१०॥

ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये यजंतो मामुपासत ।

एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतोमुखम् ॥११॥

कुछ लोग ज्ञानरूपी यज्ञ के द्वारा मेरी उपासना करते हैं,
कोई मुझ में और अपने में अभेद मान, कोई भेद मान,
और कोई नाना भांति अनेक-रूप धारण करने वाला
मान, मेरी उपासना करते हैं ॥११॥

अहं ऋतुरहं यज्ञः स्वधाहमहमौषधम् ।

मन्त्रोऽहमहमेवाज्यमहमग्निरहं हुतम् ॥१२॥

मैं श्री यज्ञ, स्मार्तयज्ञ, पितृयज्ञ, औषध, मन्त्र, होम का
साधन घृत, और हवन किया हुआ द्रव्य, तथा यज्ञाग्नि
हूँ ॥१२॥

पिताहमस्य जगतो माता धाता पितामहः ।

ऐशं पवित्रमोँकार ऋक् साध यजुरेव च ॥१३॥

मैं जगत् का पिता, माता और धारण करने वाला,
ऐशं पवित्रमोँकार ऋक् साध यजुरेव च ॥१३॥

पिताम्हृदिभक्त्येकैक्योत्पत्तिर्वाङ्मयः ।
ऋग्वेद, सामवेद, और यजुर्वेद हैं ॥१७॥

गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षा निवासः शरणं सुहृत् ।

प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम् ॥१८॥

मैं गति, पोषण करने वाला, स्वामी, शुभाशुभ-द्रष्टा,
निवास (भोग) स्थान, रक्षक, हितकर्ता, उत्पादक, नाश
करने वाला, आधार, प्रलयस्थान और अविनाशी बीज
हूँ ॥१८॥

तपाम्यहमहं वर्षं निगूह्याम्युत्सृजामि च ।

अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन ॥१९॥

मैं सूर्य रूप से तपता हूँ, मैं वृष्टि को रोकता और उत्पन्न
करता हूँ, मैं अमृत, मृत्यु, सत् (विद्यमान) और असत्
(अविद्यमान) हूँ ॥१९॥

त्रैविद्या मां सोपमाः पूतपापा

यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गातिं प्रार्थयन्ते ।

ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोक-

मश्नन्ति दिव्यान्निवि देवभोगान् ॥२०॥

वेदत्रयी (ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद) के अनुष्ठान में तत्पर, सोम-

स पीने वाले निष्ठाप पुरुष यज्ञों के द्वारा मुक्त हो जाते हैं।
Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.
कर स्वर्ग की प्रार्थना करते हैं और पुण्य से इन्द्रलोक
(स्वर्ग) को प्राप्त हो वहाँ देवों के दिव्य भोगों को भोगते
हैं ॥२०॥

ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं

क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति ।

एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना

गतागतं कामकामा लभन्ते ॥२१॥

वे विशाल स्वर्गलोक का उपभोग कर पुण्य के क्षीण होने
पर मृत्यु लोक को प्राप्त होते हैं । इस भांति कामा-
मिलाषी, वेदव्रती के मार्ग में चलने वाले पुरुष गतागत
अर्थात् इस लोक से स्वर्ग को और स्वर्ग से इस लोक को
पाते हैं ॥२१॥

अनन्याश्चित्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते ।

तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥२२॥

अनन्यचित्त हो मेरा चिन्तन करते हुए जो मुझको भजते
हैं उन योग-युक्त पुरुषों का योग (धनादि लाभ) क्षेम
(खण्ड की रक्षा) मैं करता हूँ ॥२२॥

येऽप्यन्यदेवताभक्ता यजंते श्रद्धयान्विताः ।

तेऽपि मामेव कौंतेय यजंत्यविधिपूर्वकम् ॥२३॥

जो श्रद्धायुक्त अन्य देवताओं का पूजन करते हैं वे मेरा ही पूजन करते हैं, परन्तु हे कौंतेय, वह पूजन विधि पूर्वक नहीं है ॥२३॥

अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च ।

न तु मामभिजानति तत्त्वेनातश्च्यवति ते ॥२४॥

क्योंकि, मैं सम्पूर्ण यज्ञों का उपभोग करने वाला स्वामी हूँ, परन्तु वे मुझको भली भाँति नहीं जानते इसलिए स्वर्ग से च्युत होते हैं ॥२४॥

यांति देवव्रता देवान् पितॄन्यांति पितृव्रताः

भूतानि यांति मूतेज्या यांति मद्याजिनोऽपि माम् ॥२५॥
देवताओं की भक्ति करने वाले देवलोक को, पितरों की भक्ति करने वाले पितृलोक को, भूतों की पूजा करने वाले भूतलोक को और मेरा आराधन करने वाले मुझ को पाते हैं ॥२५॥

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति ।

तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः ॥२६॥

जो शुद्ध वित्त हो पत्र, पुष्प, फल, जल, भक्ति से मेरे
अर्पण करता है, उस (भक्ति से अर्पण किए हुए) को मैं
प्रीति से ग्रहण करता हूँ ॥२६॥

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत् ।

यत्तपस्यसि योतेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥२७॥

हे कौंतेय, जो कुछ तू करता है, खाता है, आहुति देता है,
दान करता है, और तपश्चर्या करता है, वह सब मुझे
अर्पण कर ॥२४॥

शुभाशुभफलं रेवं मोक्षयसे कर्मबन्धनैः ।

संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि ॥२८॥

ऐसा करने से कर्म के बन्धन और शुभ अशुभ फल से तू
मुक्त होगा, और मुझे कर्मों के अर्पण करने से एकाग्रचित्त
हो जीवन्मुक्त दशा को प्राप्त मुझको आ मिलेगा ॥२८॥

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः ।

ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम् ॥२९॥

मैं सब प्राणियों में समान रूप से व्याप्त हूँ, मेरा कोई
प्यारा और शत्रु कोई नहीं है, जो मुझको भक्ति से सेवते
हैं उनमें मैं और मुझ में वे रहते हैं ॥२९॥

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक् ।

साधुरेव स संतव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः ॥३०॥
 अनन्य भाव से यदि दुराचारी पुरुष भी मुझको भजता है उसे उत्तम ही गिनना चाहिए, क्योंकि वह समाज में प्रवृत्त है ॥३०॥

क्षिप्रं भवति धर्मात्मा द्वावच्छांतिं निगच्छति ।

कौंतेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति ॥३१॥
 वह अतिशीघ्र ही धर्मात्मा होता है और धर्मनिष्ठ होने में सदा शान्ति को पाता है । हे कौंतेय, यह निश्चय करने जान कि मेरा भक्त नष्ट नहीं होता ॥३१॥

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य

येऽपि स्युः पापयोनयः ।

स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रा-

स्तेऽपि यांति परां गतिम् ॥३२॥

हे पार्थ, मेरा आश्रय पाकर नीच कुल में जन्म लेने वाले स्त्रियाँ, वैश्य और शूद्र भी उत्तम गति को पाते हैं ॥३२॥

किं पुनर्ब्रह्मिणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा ।

अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम् ॥३३॥

कर्म करने वाले ब्राह्मण और परम भक्त राजर्षियों का क्या कहना । वे तो मुझे पाते ही हैं । हे अर्जुन, इस नित्य और सुख से हीन मनुष्यलाक को पाकर मुझको ज ॥३३॥

अन्मना भव सद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुर्व ।

मामेवैष्यसि युक्तवैवमात्मानं सत्परायणः ॥३४॥

भक्तो नमस्कार कर, इस भांति मुझ में मन को लगा, रा ही आश्रय करता हुआ तू मुझको प्राप्त होगा ॥३४॥

इति श्रीमद्भगवद्गीता० राजविद्याराजगुह्ययोगो नाम नवमोऽध्यायः ॥६॥

दशम अध्यायः विभूति-योग

श्रीभगवानुवाच ।

भूय एव महाबाहो शृणु मे परमं वचः ।

यत्तेऽहं प्रीयमाणाय वक्ष्यामि हितकाम्यया ॥१॥

श्रीभगवान् बोले—हे महाबाहो अर्जुन, फिर भी मेरे हितकारी वचन को सुन । तुझ पर मेरी अत्यन्त प्रीति है इसलिए तेरे कल्याण के लिए कहता हूँ ॥१॥

न मे विदुः सुरगणाः प्रभवं न महर्षयः ।

अहमादिहि देवानां महर्षीणां च सर्वशः ॥२॥

मेरे जन्म को देवता और महर्षि लोग नहीं जानते, क्या सम्पूर्ण देवता और महर्षियों का आदि-कारण मैं हूँ ॥

यो मामजमनादि च वेत्ति लोकमहेश्वरम् ।

असंमूढः स मर्त्येषु सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥३॥

जो मुझको जन्म-रहित, अनन्त और सारे लोकों का स्वामी जानता है वह मोह से रहित, मनुष्यों में सर्व-रहित होकर सब पापों से छूट जाता है ॥३॥

बुद्धिर्ज्ञानमसंमोहः क्षमा सत्यं दमः शमः ।

सुखं दुःखं भवो भयो भयं चाभयमेव च ॥४॥

अहिंसा समता तुष्टिस्तपो दानं यज्ञोऽयशः ।

भवंति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः ॥५॥

बुद्धि, ज्ञान, मोह का अभाव, क्षमा, सत्य, दम (कर्मों की शान्ति) शम (आन्तरिक शान्ति) सुख, दुःख, उत्पत्ति, विनाश, भय, अभय, अहिंसा, समता, संतोष, तप, दान, यश और आयश, यह गिन्न-भिन्न भावों के भाव मुझ में सब प्राणियों में उत्पन्न होते हैं ॥४॥५॥

महर्षयः सप्त पूर्वे चत्वारो ननवस्तथा ।

मद्भावा मानसा जाता येषां लोक इमाः प्रजाः ॥६॥

गु आदि सात महर्षिजन और उनके पहिले के चार
कादि तथा मनु, ये मेरे मन से उत्पन्न हुए; जिनकी
गत् में यह सारी प्रजा है ॥६॥

एतां विभूतिं योगं च मम यो वेत्ति तत्त्वतः ।

सोऽविकम्पेन योगेन युज्यते नात्र संशयः ॥७॥

मेरी इस विभूति (अर्थात् ईश्वरत्वसूचक ऐश्वर्य) को
ली-भांति जानता है उसी को निश्चल योग प्राप्त होता है;
में कोई संदेह नहीं ॥७॥

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते ।

इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः ॥८॥

सबकी उत्पन्न करने वाला हूँ और मुझसे सब उत्पन्न
ते हैं. ऐसा मानकर ज्ञाता लोग मुझको प्रेमपूर्वक भजते
॥८॥

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम् ।

कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च ॥९॥

में ही मन, और प्राणों को अर्पण करने वाले और

श्रुतिवाक्य द्वारा मेरा विचार और कीर्तन करते हुए
सज्जन, सदा संतोष को पाते हैं और मुझमें रमते हैं ॥१॥

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम् ।

ददामि बद्धियोगं तं येन मामुपयांति ते ॥१०॥

जो सर्वदा योगयुक्त होकर मुझको प्रीतिपूर्वक भजते
उनको मैं ऐसा बुद्धिरूप साधन (उपाय) देता हूँ
जिससे वे मुझको प्राप्त होते हैं ॥१०॥

तेषामेवानुक्तं पार्थ महमज्ञानजं तमः ।

नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता ॥११॥

उनके ऊपर अनुग्रह करने के निमित्त, मैं उनकी बुद्धि
स्थित होकर प्रकाशमान ज्ञानरूप दीपक के द्वारा अज्ञान
मूलक अन्वकार को नष्ट करता हूँ ॥११॥

अर्जुन उवाच

परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान् ।

पुरुषं शाश्वतं दिव्यमादिदेवमलं विभुम् ॥१२॥

आहुस्त्वामृषयः सर्वे देवर्षिर्नारदस्तथा ।

असितो देवलो व्यासः स्वयं चैव ब्रवीषि मे ॥१३॥

अर्जुन बोला—तुम परब्रह्म, परमधाम और परमपवित्र

हो तुम्ही नित्य, दिव्य, आदिदेव, जन्मरहित, सर्वव्यापक,
 पुरुष हो, ऐसा सब ऋषि और देवर्षि नारद, असित, देवल,
 व्यास कहते हैं, और तुम स्वयं मुझसे ऐसा कहते हो

॥१२॥१३॥

सर्वमेतदृतं मन्ये यन्मां वदसि केशव ।

नहि ते भगवन्ध्याक्लि बिबुर्देवा न दानवाः ॥१४॥

हे केशव, जो तुम मुझसे कहते हो वह सब मैं सत्य मानता
 हूँ । हे भगवन्, देवता और दानव ये दोनों ही तुम्हारे
 स्वरूप को नहीं जानते ॥१४॥

स्वयमेवात्मनात्मानं वेत्त्य त्वं पुरुषोत्तम ।

भूतभावन भूतेश देवदेव जगत्पते ॥१५॥

हे पुरुषोत्तम, हे प्राणियों को उत्पन्न करने वाले, हे
 प्राणियों के ईश, हे प्रकाशकों के प्रकाशक, हे जगत् के
 स्वामी, तुम अपने आप अपने को जानते हो ॥१५॥

वक्तुमर्हस्यशेषेण बिभ्या ह्यात्मविभूतयः ।

याभिर्विभूतिभिर्लोकानिमांस्त्वं व्याप्य तिष्ठसि ॥१६॥

इन सब अपनी दिव्य विभूतियों को मुझसे कहो, जिनसे
 इन सब लोगों को व्याप्त करके तुम टिके हो ॥१६॥

कथं विद्यामहं योगिस्त्वां सदा परिचितयन् ।

केषु केषु च भावेषु चिन्तोऽसि भगवन्मया ॥१७॥

हे योगिन्, सदा चिन्तन करना हुआ तुमको कैसे जानूँ ।

हे भगवन्, मुझको जिन किन वस्तुओं में तुम्हारा चिन्तन करना युक्त है ॥१७॥

विस्तरेणात्मनो योगं विभूतिं च जनार्दन ।

भूयः कथय तृप्तिर्हि शृण्वतो नास्ति मेऽभूतम् ॥१८॥

हे जनार्दन, विस्तारपूर्वक तुम अपने योग और विभूति को मुझसे फिर कहो, क्योंकि तुम्हारे अमृत संगीचे वचन सुनकर मेरी तृप्ति नहीं होती ॥१८॥

श्रीभगवानुवाच

हंत ते कथयिष्यामि दिव्या ह्यात्मविभूतयः ।

प्राधान्यतः कुरुश्रेष्ठ नास्त्यंतो विस्तरस्य मे ॥१९॥

श्री भगवान् बोले—हे कुरुश्रेष्ठ, अपनी मुख्य विभूतियों को तुमसे कहता हूँ क्योंकि मेरी विभूतियों का अन्त नहीं है ॥१९॥

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः ।

अहमाविश्च मध्यं च भूतानामंत एव च ॥२०॥

हे गुडाकेश, (निद्रा को जातने वाला) मैं सार प्राणियों के बीच में रहने वाला आत्मा हूँ, मैं प्राणियों का आदि मध्य तथा अन्त हूँ ॥२०॥

आदित्यानामहं विष्णुर्ज्योतिषां रविरंशुमान् ।

मरीचिर्मरुतामस्मि नक्षत्राणामहं शशी ॥२१॥

मैं आदित्यों के बीच विष्णु, प्रकाशकों के मध्य अनेक किरणों से भूषित सूर्य, उनचास वायुदेवों में मरीचि और नक्षत्रों के मध्य चन्द्रमा हूँ ॥२१॥

वेदानां सामवेदोऽस्मि देवानामस्मि वासवः ।

इन्द्रियाणां मनश्चास्मि भूतानामस्मि चेतना ॥२२॥

मैं वेदों में सामवेद, देवों में इन्द्र, इन्द्रियों में मन और प्राणियों के बीच चैतन्य (ज्ञानशक्ति) हूँ ॥२२॥

रुद्राणां शंकरश्चास्मि वित्तेशो यक्षरक्षसाम् ।

वसूनां पावकश्चास्मि मेरुः शिखरिणामहम् ॥२३॥

मैं रुद्रों में शंकर, यक्ष तथा राक्षसों के मध्य कुवेर, वसुओं में अग्नि और पर्वतों में सुमेरु हूँ ॥२३॥

पुरोधसां च मुख्यं मां विद्धि पार्थ बृहस्पतिम् ।

सेनानीनामहं स्वन्दः सरसामस्मि सागरः ॥२४॥

१२२
Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.
हे पाथ, पुरोहितों के मध्य भृगु, बृहस्पति, जान, सेनापतियों
में स्वामिकांतिक, और जलाशयों में समुद्र ॥२४॥

महर्षीणां भृगुरहं गिरामस्येकमक्षरम् ।

यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि स्थावराणां हिमालयः ॥२५॥

मैं महर्षियों के मध्य भृगु, पदात्मक वचनों में ॐकार,
यज्ञों में जपयज्ञ और स्थिर पदार्थों में हिमालय हूं ॥२५॥

अश्वत्थः सर्ववृक्षाणां देवर्षीणां च नारदः ।

गन्धर्वाणां चित्ररथः सिद्धानां कपिलो मुनिः ॥२६॥

मैं सब वृक्षों में अश्वत्थ अर्थात् पीपल, देवर्षियों में नारद,
गन्धर्वों में चित्ररथ, और सिद्धों में कपिलमुनि हूं ॥२६॥

उच्चैःश्रवसमश्वानां विद्धि माममृतोद्भवम् ।

ऐरावतं गजेन्द्राणां नराणां च नराधिपम् ॥२७॥

अश्वों के मध्य क्षी समुद्र से उत्पन्न उच्चैःश्रवा, गजेन्द्रों-
में ऐरावत और नरों में राजा मुक्त को जान ॥२७॥

प्रायुधानामहं वज्रं घेनूनामस्मि कामधुक् ।

प्रजनश्चास्मि कंदर्पः सर्पाणामस्मि वासुकिः ॥२८॥

मैं शस्त्रों में वज्र, गौवों में कामधेनु, सन्तानोत्पादक
कामदेव और सर्पों में वासुकि हूं ॥२८॥

अनन्तश्चास्मि नागानां वरुणा योदसामहम् ।

पितॄणामर्यमा चास्मि यमः संयमतामहम् ॥२९॥

मैं नागों में शेष, जलचरों में वरुण, पितरों में अर्यमा और
दण्डधारियों में यम हूँ ॥२९॥

प्रह्लादश्चास्मि दैत्यानां कालः कलयतामहम् ।

मृगाणां च मृगेंद्रोऽहं वनतेयश्च पक्षिणाम् ॥३०॥

मैं दैत्यों में प्रह्लाद, गणना करने वालों में काल, पशुओं
में सिंह और पक्षियों में गरुड़ हूँ ॥३०॥

पवनः पथतामस्मि रामः शस्त्रभृतामहम् ।

मूषाणां मकरश्चास्मि स्रोतसामस्मि जाह्नवी ॥३१॥

मैं पवित्र करने वालों में वायु, शस्त्रधारियों में राम,
मत्स्यों में मकर और नदियों में गङ्गा हूँ ॥३१॥

सर्गाणामादिरंतश्च मध्यं चैवाहमर्जुन ।

अध्यात्मविद्या विद्यानां वादः प्रवदतामहम् ॥३२॥

हे अर्जुन, मैं सृष्टि का आदि, मध्य तथा अन्त हूँ ।
विद्याओं में अध्यात्मविद्या अर्थात् वेदान्तविद्या और वाद
करने वालों में सिद्धान्त हूँ ॥३२॥

अक्षराणामकारोऽस्मि द्वन्द्वः सामासिकस्य च ।

अहमेवाक्षयः कालो धाताऽहं विश्वतोमुखः ॥३३॥

मैं अक्षरों में अकार, समासों में द्वन्द्वतान, अकाल-पदार्थों में काल और कर्मफल दाताओं में मुखरूप धाता (कर्मफल देने वाला) हूँ ॥३३॥

मृत्युः सर्वहरश्चाहमुद्भवश्च भविष्यताम् ।

कीर्तिः शीर्षाश्च नारीणां स्मृतिर्मधा धृतिः क्षमा

॥३४॥

मैं सबका संहार-कर्ता, मृत्यु और आगे उत्पन्न होने वालों का उत्पत्ति कारण, तथा स्त्रियों में कीर्ति, लक्ष्मी, वाणी, स्मृति, बुद्धि, धारणशक्ति और क्षमा मैं हूँ ॥३४॥

बृहत्साम तथा साम्नां गायत्री छन्दसामहम् ।

मासानां मार्गशीर्षोऽहमृक्ष्णां कुतुमाकरः ॥३५॥

मैं सामगायनों में बृहत्साम, छन्दों में गायत्री, मासों में मार्गशीर्ष और ऋतुओं में वसन्त हूँ ॥३५॥

धूतं छलयतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम् ।

जयोस्मि व्यवसायोऽस्मि सत्त्वं सत्त्ववतामहम् ॥३६॥

मैं छल करने वालों से जुआ, तेजस्वियों में तेज जयशीलों में जय, और सात्त्विकों में सत्त्व हूँ ॥३६॥

वृष्णीनां वामुदेवोऽस्मि षण्डवानां धनंजयः ।

मुनीनामप्यहं व्यासः कवीनामुशना कविः ॥३७॥

मैं, यदुवंशियों में वामुदेव, षण्डवों में अर्जुन, मुनियों में व्यास और कवियों में शुक्र हूँ ॥३७॥

दंडो दमयतास्मि नीतिरस्मि जिगीषताम् ।

मीनं चैवास्मि गुह्यानां ज्ञानं ज्ञानवतामहम् ॥३८॥

मैं दमन करने वालों में दण्ड, मत्स्य जीतने की इच्छा करने वालों में नीति, गुह्य अर्थात् छिपने के योग्य पदार्थों में मीन, और ज्ञानियों में ज्ञान हूँ ॥३८॥

यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन ।

न तदस्ति बिना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम् ॥३९॥

और हे अर्जुन, सारे प्राणियों का बीज (कारण) मैं हूँ । ऐसा कोई चर अथवा अचर नहीं है कि जो मेरे बिना हो ॥३९॥

नांतोस्ति मम दिव्यानां विभूतीनां परंतप ।

एष तूद्देशतः प्रोक्तो विभूतेर्विस्तरो मया ॥४०॥

हे परंतप, मेरी दिव्य विभूतियों का अंत नहीं है, यह विस्तार तो उन (विभूतियों) के दिग्दर्शन के लिए मैंने किया है ।

यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमद्वर्जितमेव वा ।

तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोऽंशसंभवम् ॥४१॥

जो जो वस्तु ऐश्वर्ययुक्त, वा शोभायुक्त अथवा किसी भांति चमत्कारी है, वे सब मेरे तेजांश से उत्पन्न हैं, ऐसा तू जान ॥४१॥

अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवाजुन ।

विष्टम्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत् ॥४२॥

अथवा हे अर्जुन, इन विभूतियों को पृथक्-पृथक् जानने की अपेक्षा जान ले कि मैं इस सारे जगत् को एक अंश से व्याप्त करके स्थित हूँ ॥४२॥

इति श्रीमद्भगव० विभूतियोगो नाम दशमोऽध्यायः ॥१०॥

एकादशोऽध्यायः विश्वरूपदर्शन-योग

अर्जुन उवाच ।

मदनुग्रहाय परमं गुह्यमध्यात्मसंज्ञितम् ।

यत्त्वयोक्तं वचस्तेन मोहोऽयं विगतो मम ॥१॥

अर्जुन बोला—मुझ पर कृपा करने के लिए जो तुमने अध्यात्मनामक परमगुप्त ज्ञान कहा उससे यह मेरा मोह दूर हो गया ॥१॥

त्वत्तः कमलपत्राक्ष माहात्म्यमपि चाव्ययम् ॥२॥

हे कमलनयन, चराचर का जन्म, तथा नाश तुमसे होता है, यह मैंने विस्तार पूर्वक तुमसे सुना, और आविनाशी माहात्म्य भी सुना ॥३॥

एवमेतद्यथात्थ त्वमात्मानं परमेश्वर ।

द्रष्टुमिच्छामि ते रूपमेश्वरं पुरुषोत्तम ॥३॥

हे पुरुषोत्तम, परमेश्वर, तुमने यह जैसा अपना वर्णन किया है वैसे सब ऐश्वर्यों से युक्त तुम्हारा रूपा देखने की इच्छा करता हूँ ॥३॥

मन्यसे यदि तच्छक्यं मया द्रष्टुमिति प्रभो ।

योगेश्वर ततो मे त्वं दर्शयात्मानमव्ययम् ॥४॥

हे प्रभो योगेश्वर, यदि मेरे द्वारा आपका वह रूप देखा जाना शक्य है तो मुझे अविनाशी निज रूपा दिखाओ ॥४॥

श्रीभगवानुवाच

पश्य मे पार्थ रूपाणि शतशोऽथ सहस्रशः ।

नानाविधानि विध्यानि नानावर्णाकृतीनि च ॥५॥

भगवान् बोले — हे पार्थ, अनेक प्रकार के, दिव्य, नाना

भाँति के वर्णों और आकारों वाले मेरे सैकड़ों हजारों रूपों
को तू देख । ५॥

पश्यादित्यान्वसून् रुद्रानश्विनौ भरतस्तथा ।

बहून्यदृष्टपू णि पश्याश्चर्याणि भारत ॥६॥

हे भारत, सूर्य, वसुधैव कुटुम्बकम्, अश्विनी कुमार, भरद्गण, और
पहिले कभी न देखे हुए ऐसे बहुतेरे आश्चर्यों को देख
॥६॥

इहैकस्थं जगत्कृत्स्नं पश्याद्य सचराचरम् ।

मम देहे गुडाकेश यच्चान्यद्द्रष्टुमिच्छसि । ७॥

हे गुडाकेश, इस मेरे शरीर में स्थिर तारे जगत् को देख,
और जो कुछ देखने की इच्छा करता है वह सब देख ॥७॥

न तु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा ।

विव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम् । ८॥

परन्तु इन नेत्रों द्वारा तू मुझको नहीं देख सकता, इसलिए
तुझको दिव्य दृष्टि (जानात्मा चक्षु) देता हूँ । उससे
मेरी योगविभूति को युक्ति-जनित अधटित घटना समर्थन
को देख ॥८॥

एवमुक्त्वा ततो राजन् महायोगेश्वरो हरिः ।

दर्शयानास पार्थाय परमं रूपमेश्वरम् ॥६॥

संजय बोला—हे राजन्, इस भाँति कहने के बाद यहाँ योगेश्वर हरि ने अपना उत्कृष्ट ईश्वर-रूप अर्थात् विश्व-रूप पार्थ को दिखलाया ॥६॥

अनेकवक्त्रनयनमनेकाद्भुतदर्शनम् ।

अनेकदिव्यभरणं दिव्यानेकोद्यतायुधम् ॥७॥

जिस रूप में अनेक मुख, नाना नेत्र, अनेक सद्भुत दर्शन, नाना भाँति के दिव्य भूषण, और प्रहार के लिए संनद्ध अनेक दिव्य अस्त्र थे ॥७॥

दिव्यमाल्यांबरधरं दिव्यगंधानुलेपनम् ।

सर्वाश्चर्यमयं देवमनंतं विश्वतोमुखम् ॥८॥

जो अङ्गों पर सुन्दर पुष्पमाला और वस्त्र धारण किये, दिव्यगन्धों से लिप्त, सारे आश्चर्यों का स्वरूप, अन्तर्निहित प्रकाशमान था और जिसके चारों ओर मुख थे ॥८॥

विवि सूर्यसहस्रस्य भवेद्युगपदुत्थिता ।

यदि भाः सदंशी साऽस्थान्नासस्तस्य महात्मनः ॥९॥

यदि एक ही समय आकाश में हजार सूर्य की प्रभा पड़े
तो वह उस निराट स्वरूप शरीर की कान्ति के सदृश हो

॥१२॥

तत्रैकस्य जगत्कृत्स्नं प्रविभक्तमनेज्घा ।

अपश्यद्देवदेवस्य शरीरे पांडवस्तदा ॥१३॥

उस समग्र पांडव (अर्जुन) ने देवाग्निदेव के शरीर में
नानाभाति से विभक्त एतन् स्थित सारे जगत् को
देखा ॥१३॥

ततः स विस्मयाविष्टो हृष्टरोमा घनंजयः ।

प्रणम्य शिरसा देवं कृताञ्जलिरभाषत ॥१४॥

तत्पश्चात् आश्चर्य से युक्त रोमांचित शरीर वाला
घनंजय, फिर भुक्ताकर प्रणाम करके हाथ जोड़ उठ
विश्वरूप देव से बोला ॥१४॥

अर्जुन उवाच

पश्यामि देवांस्तव देव देहे

सर्वांस्तथा भूतविशेषसंधान् ।

ब्रह्माण्मीशं कमलासनस्थ-

मूर्धोश्च सर्वानुरगांश्च दिव्यान् ॥१५॥

अजु न बलि—हे देव, तुम्हारे शरीर में सब देव नाना-
विध प्राणियों के समुदाय, कमल के आसन पर बैठे हुए
प्रजाओं के ईश, ब्रह्मा, सम्पूर्ण ऋषि, और दिव्य सपों को
मैं देखता हूँ ॥१५॥

अनेकबाहूबरवक्त्रनेत्रं

पश्यामि त्वां सर्वतोऽनन्तरूपम् ।

नान्तं न मध्यं न पुनस्तर्वादि

पश्यामि विश्वेश्वर विश्वरूपम् ॥१६॥

हे विश्व के ईश्वर, तुम्हारे अनेक भुज, अनेक उबर,
अनेक मुख, अनेक नेत्र इस भांति चारों ओर से
अनन्त रूप देखता हूँ, और तुम्हारे अन्त, मध्य, तथा
आदि को नहीं देखता हूँ । किन्तु सारा विश्व तुम्हारा ही
रूप देखता हूँ ॥१६॥

किरीटिनं गदिनं चक्रिणं च

तेजोराशि सर्वतो वीप्तिमन्तम् ।

पश्यामि त्वां दुर्निरीक्ष्यं समन्ता-

दीप्तानलार्कद्युतिमप्रमेयम् ॥१७॥

तुमको किरीटयुवत, गदा चक्र धारे, चारों ओर से प्रकाश-

मान, तेजोराशि, सर्वत्र चमकते हुए अग्नि तथा सूर्य की भांति कान्तिमान्, अप्रमेय (अर्थात् जानने के अयोग्य) और दृष्टि न टिकने के योग्य देखता हूँ ॥१७॥

त्वमक्षरं परमं वेदितव्यं

त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम् ।

त्वमव्ययः शाश्वतधर्मगोप्ता

सनातनस्त्व पुरुषो मतो मे ॥१८॥

तुम मुझे परब्रह्म, जानने योग्य विश्व के परम आधार नित्य सनातन धर्मों के रक्षक, सनातन पुरुष ऐसे दीर्घ हो ॥१८॥

अनादिमध्यान्तमनन्तवीर्य-

मनन्तबाहुं शशिसूर्यनेत्रम् ।

पश्यामि त्वां शीघ्रहृताशवक्त्रं

स्वतेजसा विश्वमिदं तपन्तम् ॥१९॥

तुमको आदि, मध्य तथा अन्त से रहित, अनन्त शक्ति अनन्त भुज, चन्द्र सूर्य ही हैं नेत्र जिसके, प्रकाशमान अग्नि के सदृश है मुख जिसका, निज तेज से इस सारा जगत् को तपाते हुए मैं देखता हूँ ॥१९॥

व्याप्तं त्वय्येकेन दिशश्च सर्वाः ।

दृष्ट्वाद्भुतं रूपमुग्रं तवेवं

लोकत्रयं प्रव्यथितं महात्मन् ॥२०॥

हे महात्मन्, केवल तुमसे आकाश और भूमि का यह अन्तर, तथा सारी दिशा व्याप्त हैं । और तुम्हारे अद्भुत तथा उग्र इस रूपा को देखकर त्रैलोक्य भयभीत होता है ॥२०॥

अमो हि त्वां मुरसंधा विशन्ति

केचिद्भीता प्राञ्जलयो गृणन्ति ।

स्वस्तीत्युक्त्वा महर्षिसिद्धसंधाः

स्तुवन्ति त्वां स्तुतिभिः पुष्कलाभिः ॥२१॥

ये देवताओं के समूह तुम्हारी शरण में आते हैं, उनमें से कितने भयभीत हो हाथ जोड़कर तुम्हारी प्रार्थना करते हैं । महर्षि और सिद्धों के समुदाय 'स्वस्ति' शब्द का उच्चारण करके अनेक स्तुतियों से तुम्हारी स्तुति करते हैं ॥२१॥

रुद्रादित्या वसवो ये च साध्या

विश्वेऽश्विनौ मरुतश्चोष्मपाश्च ।

गन्धर्वयक्षासुरसिद्धसंघा

वीक्षन्ते त्वां विस्मिताश्चैव सर्वे ॥२२॥

तुमहो रुद्र, सूर्य, वसु, साध्य, विश्वेदेव, अश्विनीकुमार, वायु, पितर, गन्धर्व, यक्ष, असुर और सिद्ध, सब विस्मित हुए देखते हैं ॥२२॥

रूपं महत्ते बहुवचकत्रनेत्रं

महाबाहो बहुबाहुरूपायम् ।

बह्वरं बहुदंष्ट्राकरालं

दृष्ट्वा लोकाः प्रव्यथितास्तथाहमम् ॥२३॥

हे महाबाहो, तुम्हारे अनेक मुख, अनेक नेत्र, अनेक भुज, अनेक नाक, अनेक चरण, अनेक उदर और विकराल दाढ़ वाले भयंकर रूप को देखकर सारे लोक और मैं व्यथित होता हूँ ॥२३॥

नभःस्पृशं दीप्तमनेकवर्णं

व्यात्ताननं दीप्तविशालनेत्रम् ।

दृष्ट्वा हि त्वां प्रव्यथितान्तरात्मा

धृतिं न विन्दामि शमं च विष्णो ॥२४॥

हे विष्णो, आकाश को स्पर्श करने वाले, प्रकाशमान,
अनेकवर्ण, मुख को फैलाते हुए, चमकीले तथा बड़े नेत्रों
वाले तुम्हारे स्वरूप को देखकर, विशेष रूप से भयभीत
हुआ मैं वीर्य तथा शान्ति को नहीं पाता ॥२४॥

दंष्ट्राकरालानि च ते मुखानि
दृष्ट्वा कालानलसंनिभानि ।

दिशो न जाने त लभे च शर्म
प्रसीद देवेश जगन्निवास ॥२५॥

तुम्हारे विकराल दाढ़ों से अतिभयंकर प्रलयकाल की अग्नि
के समान मुखों को देख मुझे दिशाओं का ज्ञान नहीं रहा
हे देवों के ईश्वर, जगन्निवास, आप प्रसन्न हों ॥२५॥

अमी च त्वां धृतराष्ट्रस्य पुत्राः
सर्वे सहैवावतिपालसंघैः ।

भीष्मो द्रोणः सुतपुत्रस्तथासौ
सहास्मदीयैरपि योधमुख्यैः ॥२६॥

वक्त्राणि ते त्वरमाणा विशन्ति
दंष्ट्राकरालानि भयानकानि ।

केचिद्विलग्ना दशान्तरेषु
संदृश्यन्ते चूर्णितैरुत्तमाङ्गैः ॥२७॥

घृतराष्ट्र के सब पुत्र और भीष्म, द्रोण, कर्ण तथा मेरे
यहाँ के मुख्य भटों के साथ आपके मुख में प्रवेश कर रहे
हैं। उपरोक्त सभी बड़ी-बड़ी दाढ़ों वालों अतिभयानक
तुम्हारे मुखों में जल्दी प्रवेश करते हैं। अनेक सिर दांतों
के बीच में लगे हुए चकनाचूर दिखलाई देते हैं ॥२६॥७॥

यथा नदीनां बहुवोऽम्बुवेगाः

समद्रमेवाभिमुखा ब्रवन्ति ।

तथा तवामी नरलोकवीर

विशन्ति वक्त्राण्यभितो ज्वलन्ति ॥२८॥

जैसे नदियों के बड़े-बड़े जलप्रवाह समुद्र में पड़ते हैं,
वैसे ही नरलोकवीर अर्थात् राजा लोग चारों ओर से
प्रकाशमान ऐसे तुम्हारे मुख में प्रवेश करते हैं ॥२८॥

यथा प्रदीप्तं ज्वलनं पतङ्गा

विशन्ति नाशाय समृद्धवेगाः ।

तथैव नाशाय विशन्ति लोका-

स्तवापि वक्त्राणि समृद्धवेगाः ॥२९॥

जैसे अग्नि में मृत्यु पाने के लिए पतंग बड़े वेग से जा
पड़ते हैं, वैसे ही नाश के लिए ये सारे वीरजन तुम्हारे
मुखों में बड़े वेग से प्रवेश करते हैं ॥२९॥

लेलिह्यसे प्रसमान समन्ता

लोकान्समग्रान्दवनैर्ज्वलद्भिः ।

तेजोभिरापूर्य जगत्समग्रं

भासस्तवोग्राः प्रतपन्ति विष्णो ॥३०॥

हे विष्णो, तुम चारों ओर से प्रकाशमान मुखों द्वारा सारे वीर-जनों को ग्रस्त कर रहे हो, और तुम्हारी उग्र प्रभा सारे जगत् को अपने तीक्ष्ण तेज से तपा रही है ॥३०॥

ग्राख्याहि मे को भवानुग्ररूपो

नमोस्तु ते देववर प्रसीद ।

विज्ञातुमिच्छामि भवन्तमाद्यं

नहि प्रजानां तव प्रवृत्तिम् ॥३१॥

तुम ऐसे उग्ररूप कौन हो, यह मुझ से कहो । हे देवश्रेष्ठ तुम्हें नमस्कार करता हूँ, प्रसन्न हो । तुम संसार के आदिभूत को जानने की इच्छा करता हूँ, क्योंकि तुम्हारा इस प्रवृत्ति (चेष्टा) को मैं नहीं समझता हूँ ॥३१॥

श्रीभगवानुवाच ।

कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रदहो

लोकान्समाहर्तुमिह प्रवृत्तः ।

ऋतेऽपि त्वां न भविष्यन्ति सर्वे

येऽवस्थिताः प्रत्यनीकेषु योधाः ॥३२॥

भगवान् बोले—मैं लोकों का नाश करने वाला अत्यन्त उत्कट काल हूँ, लोकों का संहार करने के लिए यहाँ प्रवृत्त हुआ हूँ, तेरे युद्ध न करने से भी सभी सेनाओं में स्थित वे सब योद्धा जीवित न रहेंगे ॥३२॥

तस्मात्त्वमुत्तिष्ठ यशो लभस्व

जित्वा शत्रून्भुङ्क्व राज्यं समृद्धम् ।

मयैवंते निहताः पूर्वमेव

निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन् ॥३३॥

इसलिए तू उठ, शत्रुओं को मार, यश को प्राप्त हो और सम्पन्न राज्य का उपभोग कर । हे सव्यसाचिन् (बाएँ हाथ से भी गीर चला सकने वाले) अर्जुन, मैंने इन सबको पहले ही मार रक्खा है, तू केवल निमित्तमात्र बन ॥३३॥

द्रोणं च भीष्मं च जयद्रथं च

कर्णं तथान्यान्पि गोघवीरान् ।

अथा हतांस्त्व जहि मा व्यथिष्ठा

युष्यस्व जेतासि रणे सपत्नान् ॥३४॥

मेरे मारे हुए ब्रौण, भीष्म, जयद्रथ, कर्ण और अन्य योद्धाओं
को तू मार, खेद मत कर, युद्ध कर, संग्राम में शत्रुओं को
जीतेगा ॥३४॥

संजय उवाच

एतच्छ्रुत्वा वचनं केशवस्य

कृताञ्जलिर्वेपमानः किरीटी ।

नमस्कृत्वा भूय एवाह कृष्णं

सगद्गदं भीतभीतः प्रणम्य ॥३५॥

संजय घृतराष्ट्र से बोला—इस प्रकार भगवान् का वचन
सुन अर्जुन हाथ जोड़कर कांपने लगा । और भयभीत
होकर मस्तक झुकाकर फिर नमस्कार करके गद्गद स्वर
से कृष्ण से बोला ॥३५॥

अर्जुन उवाच

स्थाने हृषीकेश तव प्रकीर्त्या

जगत्प्रहृष्यत्यनुरज्यते च ।

रक्षांसि भीतानि दिशो द्रवन्ति

सर्वे नमस्यन्ति च सिद्धसंघाः ॥३६॥

हे हृषीकेश, तुम्हारी कीर्ति से सारा जगत् प्रसन्न और

प्रेममग्न होता है, राक्षस लोग भयभीत हो दिशाओं की ओर भागते हैं और संपूर्ण सिद्धों के वृन्द तुम्हें नमस्कार करते हैं, सो उचित भी है ॥३६॥

कस्मान्च ते न नमेरन्महात्मन्

गरीयसे ब्रह्मणोऽप्यादिकर्त्रे ।

अनन्त देवेश जगन्निवास

त्वमक्षरं सवसत्तत्परं यत् ॥३७॥

हे महात्मन्, हे अनन्त, हे देवों के नाथ, हे जगन्निवास तुम ब्रह्मा से भी महान् सबके आदिकर्ता हो, वे तुम्हें क्यों न नमस्कार करें। तुम सत् और असत् से परे अक्षर अर्थात् अविनाशी हो ॥३७॥

त्वमादिदेवः पुरुषः पुराणः

स्त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम् ।

वेत्तासि वेद्यं च परं च धाम

स्वया ततं विश्वमनन्तरूप ॥३८॥

हे अनन्तरूप, तुम आदिदेव, पुराणपुरुष, इस विश्व के लय के स्थान, ज्ञाता, जानने के योग्य उत्तम वस्तु और परम धाम हो, तुम से यह विश्व व्याप्त है ॥३८॥

प्रजापतिस्त्वं प्रपितामहश्च ।

नमो नमस्तेऽस्तु सहस्रकृत्वः

पुनश्च भूयोऽपि नमो नमस्ते ॥३६॥

तुम वायु, अग्नि, अग्नि, वरुण, चन्द्र, ब्रह्मा और ब्रह्मा के
पिता हो । हजार बार तुम्हें नमस्कार है, और पुनः-पुनः
नमस्कार है ॥३६॥

नमः पुरस्तादथ पुष्तस्ते

नमोऽस्तु ते सर्वत एव सर्व ।

अनन्तवीर्यामितविक्रमस्त्वं

सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः ॥४०॥

हे सर्वस्वरूप, तुम्हारा सामर्थ्य और पराक्रम अनन्त
है । सारे जगत् को व्याप्त किये हो, इसलिए सर्वात्मक
हो ॥४०॥

सखेति मत्वा प्रसभं यदुक्तं

हे कृष्ण हे यादव हे सखेति ।

अज्ञानता मद्भिमानं तवेवं

मया प्रमादात्प्रणयेन वापि ॥४१॥

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust
तुम्हारा वहिष्कार भी अमान्य करने में तुम्हारी वही राखा
मानकर हे कृष्ण, हे यादव, हे सबे, ऐसा जो तिरस्कार से
कहा वह प्रमाद से अथवा प्रीति के कारण ॥४१॥

यच्चावहासार्थमसत्कृतोऽसि

बिहारशय्यासनभोजनेषु ।

एकोऽथ वाप्यच्युत तत्समक्षं

तत्क्षामये त्वामहमप्रमेयम् ॥४२॥

हे अच्युत, अप्रमेय रूप तुमसे इन बातों की क्षमा मांगता
हूँ, जो कि परिहास में बिहार, शय्या, आसन और भोजन
के समय अकेले अथवा वयस्यों के मध्य मैंने तुम्हारा
तिरस्कार किया है ॥४२॥

पितासि लोकस्य चराचरस्य

त्वमस्य पूज्यश्च गुरुर्गरीयान् ।

न त्वत्समोऽस्त्यस्यधिकः कुतोऽन्यो

लोकत्रयेऽप्यप्रतिमप्रभावः ॥४३॥

तुम इन स्थावरजंगमरूप लोक के पिता, पूज्य, और
अत्यन्त बड़े गुरु हो, तीनों लोकों में तुम्हारे तुल्य कोई
नहीं है तो तुमसे अधिक बतुन और कौन हो सकता
है ॥४३॥

प्रसादये त्वामहमीशमीड्यम् ।

पितेव पुत्रस्य सखेव सख्युः

प्रियः प्रियायार्हसि देव सोढुम् ॥४४॥

इसलिए हे स्तुत्य, ईश, तुम से सिर झुकाकर प्रणाम करके यह प्रार्थना करता हूं कि मुझ पर दया करो हे देव, जैसे पिता पुत्र के, मित्र मित्र के, और प्रिय प्रिया के अपराधों को क्षमा करता है, वैसे ही तुम मेरे अपराधों को क्षमा करो ॥४४॥

अवृष्टपूर्वं हृषितोऽस्मि दृष्ट्वा

भयेन च प्रव्यथितं मनो मे ।

तदेव मे दर्शय देव रूपं

प्रसीद बेवेश जगन्निवास ॥४५॥

इससे पूर्व कभी न देखा, ऐसा रूप देखकर हृषित हूं, और भय से मेरा मन व्यथित है, इसलिए हे देवों के स्वामी, जगन्निवास, देव, मुझको वही रूप दिखाओ, और प्रसन्न हो ॥४५॥

मिच्छामि त्वां वृष्टुमहं तथैव ।

तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन

सहस्रबाहो भव विश्वमूर्ते ॥४६॥

हे हजार भुजा वाले, विश्वमूर्ते, तूमे किरीट धारण किये,
हाथों में गदा और चक्र लिए जिस चतुर्भुजरूप में वे
उसी तुम्हारी मूर्ति को देखना चाहता हूं ॥४६॥

श्रीभगवानुवाच ।

सया प्रसन्नेन तवार्जुनेन

रूपं परं दक्षितमात्मयोगात् ।

तेजोमयं विश्वमनन्तमाद्यं

यन्मे त्वदन्येन न वृष्टपूर्वम् ॥४७॥

भगवान् बोले—हे अर्जुन, मैंने प्रसन्न होकर अपने योगबल
से तुम्हें अपना यह आद्य, तेजोमय, अनन्त, परम-अद्भुत
विश्वरूप दिखाया, जिस मेरे इस स्वरूप को तुम्हारे अति-
रिक्त किसी ने नहीं देखा ॥४७॥

न वेदयज्ञाध्ययनं न दानं-

न च क्रियाभिर्न तपोभिरप्रैः ।

एवंरूपः शक्य ग्रहं नृलोके

द्रष्टुं त्वदन्येन कुरुप्रवीर ॥४८॥

हे कुरुश्रेष्ठ, इस लोक में तुझ से अतिरिक्त अन्य पुरुष वेदों के अध्ययन, यज्ञों के विज्ञान, दान, होमादि और घोर तप करके भी मेरे इस रूप को नहीं देख सकते ॥४८॥

मा ते व्यथा मा च विमूढभावो

दृष्ट्वा रूपं घोरमोदुङ् समेदम् ।

व्यपेतभीः प्रीतमनाः पुनस्त्वं

तदेव मे रूपमिदं प्रपश्य ॥४९॥

मेरे ऐसे भयंकर रूप को देखकर तू व्यथित और मूढ़ न हो । भय छोड़कर प्रसन्नचित्त हो, फिर तू मेरे उसी इस रूप को देख ॥४९॥

संजय उवाच ।

इत्यर्जुनं वासुदेवस्तथोक्त्वा

स्वकं रूपं वशयामास भूयः ।

आश्वासयामास च भीतगेनं

भूत्वा पुनः सौम्यवपुर्महात्मा ॥५०॥

संजय बोला—इस भांति श्रीकृष्ण जी ने अर्जुन को कहा
फिर अपने स्वरूप को उसे दिखाया, और उसे भयभीत
देखकर फिर सौम्य रूप धारण करके उसे आश्वासन
दिया ॥५०॥

अर्जुन उवाच ।

दृष्ट्वेदं मानुषं रूपं तव सौम्यं जनार्दन ।

इदानीमस्मि संवृत्तः सचेताः प्रकृतिं गतः ॥५१॥

अर्जुन बोला—हे जनार्दन, तुम्हारा यह मानुष, सौम्य
देखकर अब मैं प्रसन्नचित्त हो अपनी प्रकृति को प्राप्त
हूँ ॥५१॥

श्रीभगवानुवाच

सुबुवंशमिवं रूपं दृष्टवानसि यन्मम ।

देवा अप्यस्य रूपस्य नित्यं वंशनकांक्षिणः ॥५२॥

श्रीभगवान् बोले—हे अर्जुन, तूने जिस मेरे स्वरूप को
देखा है वह अत्यन्त दुर्लभ है । देवतालोग भी उसके दर्शन
की सदा इच्छा करते हैं ॥५२॥

नाहं वेदेन तपसा न दानेन न चेज्यया ।

शक्य एवमिषो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यया ॥५३॥

वेद, तप, दान और यज्ञ करके भी कोई मेरा यह रूप नहीं देख सकमा कि जैसा तूने देखा है ॥५३॥

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन ।

ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप ॥५४॥

परंतु हे परंतप, अर्जुन, ऐसा मैं केवल एक भक्ति से यथार्थ जानने, देखने और मिलने के योग्य हूं ॥५४॥

मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः ।

निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव ॥५५॥

हे पाण्डव, जो मेरा भक्त, मेरे अर्थ कर्म करने वाला, मुझको परम गति मानने वाला, संग रहित, पुरुष सारे प्राणियों में वैर छोड़कर रहता है वह मुझको प्राप्त होता है ॥५५॥

ति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु विश्वरूपदर्शनयोगो नामै-
कादशोऽध्यायः ॥११॥

द्वादश अध्यायः भक्ति योग

अर्जुन उवाच ।

एवं सततयुक्ता ये भक्तास्त्वां पर्युपासते ।

ये चाप्यक्षरमव्यक्तं तेषां के योगवित्तमाः ॥१॥

१४८

गीता

अर्जुन बोला—जो तुम्हारे सगुणरूप में सदा चित्त स्थित होकर तुम्हें भजते हैं वे, और जो अव्यक्त परब्रह्म में भजते हैं वे, इन दोनों प्रकारों के भक्तों से कौन-से योगी हैं ॥१॥

श्रीभगवानुवाच

मय्यावेभ्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते ।

श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः ॥२॥

श्रीभगवान् बोले—जो मेरे विषय में चित्त लगाकर परमश्रद्धायुक्त मुझको भजते हैं वे उत्तम योगी हैं, ऐसे मानता हूँ ॥२॥

ये त्वक्षरमनिर्वेश्य अव्यक्तं पर्युपासते :

सर्वत्रगमचित्यं च कूटस्थमवलम्ब्य ॥३॥

संश्रित्य म्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः ।

ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः ॥४॥

परन्तु जो इन्द्रियों को अपने अधीन करके सर्वत्र समबुद्धिभाव द्वारा सब प्राणियों के हित में रत, अविनाशशब्दों से परे मेरे अव्यक्तरूप, सर्वव्यापी, अचिंत्य प्रपञ्च में टिके, निश्चल, ध्रुव को भजते हैं वे मुझ

कलेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम् ।

अव्यक्ता हि गतिदुःखं देहवद्भिरवाप्यते ॥५॥

जिनकी अव्यक्त विषय में चित्तवृत्ति लगी है उनको अक्षर
ग्रह में चित्त लगाने से कष्ट होता है, क्योंकि देह धारण
करने वाले को अव्यक्त की उपासना करना कष्टकर
होता है ॥५॥

ये तु सर्वाणि कर्माणि भयि संन्यस्य मत्पराः ।

अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते ॥६॥

तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात् ।

भवामि न चिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम् ॥७॥

सब कर्म मेरे अर्पण करके मेरे आश्रित हो अनन्ययोग
ध्यान करते हुए मुझको भजते हैं, मुझ में चित्तवृत्ति
वाले उन भक्तों को मैं मृत्युरूप ससार-सागर से जल्दी
धारता हूँ ॥६॥ ॥७॥

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धि निवेशय ।

निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्व न संशयः ॥८॥

मैं मन और बुद्धि लगाकर देह त्याग करने के बाद
निःसंदेह मुझमें निवास करेगा ॥८॥

१४८

गीता

अर्जुन बोला—जो तुम्हारे सगुणरूप में सदा चित्त स्थित होकर तुम्हें भजते हैं वे, और जो अव्यक्त परब्रह्म में भजते हैं वे, इन दोनों प्रकारों के भक्तों से कौन-से भक्त योगी हैं ॥१॥

श्रीभगवानुवाच

मय्यावेभ्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते ।

अद्वया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः ॥२॥

श्रीभगवान् बोले—जो मेरे विषय में चित्त लगाकर परमश्रद्धायुक्त मुझको भजते हैं वे उत्तम योगी हैं, ऐसे मानता हूँ ॥२॥

ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते :

सर्वत्रगमच्चित्तं च कूटस्थमवल ध्रुवम् ॥३॥

संनियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः ।

ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः ॥४॥

परन्तु जो इन्द्रियों को अपने अधीन करके सर्वत्र सदा बुद्धिभाव द्वारा सब प्राणियों के हित में रहें, अविनाशशब्दों से परे मेरे अव्यक्तरूप, सर्वव्यापी, अचिंत्य प्रपञ्च में टिके, निश्चल, ध्रुव को भजते हैं वे मुझको प्राप्ति पाते हैं ॥३॥ ॥४॥

कलेशाधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम् ।

अव्यक्ता हि गतिदुःखं देहवद्भिरवाप्यते ॥५॥

जिनकी अव्यक्त विषय में चित्तवृत्ति लगी है उनको अक्षर
ब्रह्म में चित्त लगाने से कष्ट होता है, क्योंकि देह धारण
करने वाले को अव्यक्त की उपासना करना कष्टकर
होता है ॥५॥

ये तु सर्वाणि कर्माणि भयि संन्यस्य मत्पराः ।

अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते ॥६॥

तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात् ।

भवामि न चिरात्पार्थ मध्याब्धेशितचेतसाम् ॥७॥

मैं सब कर्म मेरे अर्पण करके मेरे आश्रित हो अनन्ययोग
ध्यान करते हुए मुझको भजते हैं, मुझ में चित्तवृत्ति
रखने वाले उन भक्तों को मैं मृत्युरूप संसार-सागर से जल्दी
धारता हूँ ॥६॥ ॥७॥

मध्येव मन श्रावत्स्व भयि बुद्धि निवेशय ।

निवसिष्यसि मध्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः ॥८॥

मैं मन और बुद्धि लगाकर देह त्याग करने के बाद
निःसंदेह मुझमें निवास करेगा ॥८॥

१४८

गीता

अर्जुन बोला—जो तुम्हारे सगुणरूप में सदा चित्त स्थित
होकर तुम्हें भजते हैं वे, और जो अव्यक्त परब्रह्म
भजते हैं वे, इन दोनों प्रकारों के भक्तों से कौन-से भक्त
योगी हैं ॥१॥

श्रीभगवानुवाच

मध्यावेभ्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते ।

श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः ॥२॥

श्रीभगवान् बोले—जो मेरे विषय में चित्त लगाकर
परमश्रद्धायुक्त मुझको भजते हैं वे उत्तम योगी हैं, ऐसे
मानता हूँ ॥२॥

ये त्वक्षरमतिर्देश्यव्यक्तं पर्युपासते :

सर्वत्रगमच्चित्त्यं च कूटस्थमवल ध्रुवम् ॥३॥

संनियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः ।

ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः ॥४॥

परन्तु जो इन्द्रियों को अपने अधीन करके सर्वत्र
बुद्धिभाव द्वारा सब प्राणियों के हित में रत, अविनाश
शब्दों से परे मेरे अव्यक्तरूप, सर्वव्यापी, अचिंत्य
प्रपञ्च में टिके, निश्चल, ध्रुव को भजते हैं वे मुझको
प्राप्त करते हैं ॥३॥ ॥४॥

कलेशाधिपकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम् ।

अव्यक्ता हि गतिदुःखं देहवद्विरवाप्यते ॥५॥

जिनकी अव्यक्त विषय में चित्तवृत्ति लगी है उनको अक्षर
रूप में चित्त लगाने से कष्ट हीता है, क्योंकि देह धारण
करने वाले को अव्यक्त की उपासना करना कष्टकर
होता है ॥५॥

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः ।

अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते ॥६॥

तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात् ।

भवामि न चिरात्पार्थ मध्यावेशितचेतसाम् ॥७॥

मैं सब कर्म मेरे अर्पण करके मेरे आश्रित हो अनन्ययोग
ध्यान करते हुए मुझको भजते हैं, मुझ में चित्तवृत्ति
न होने वाले उन भक्तों को मैं मृत्युरूप ससार-सागर से जल्दी
धारता हूँ ॥६॥ ॥७॥

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धि निवेशय ।

निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः ॥८॥

मैं में मन और बुद्धि लगाकर देह त्याग करने के बाद
निःसंदेह मुझमें निवास करेगा ॥८॥

अथ चित्तं समाधातुं न शक्नोषि मायं स्थिरम् ।

अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छाप्तुं धनंजय ॥६॥

यदि तू मुझ में अपनी चित्तवृत्ति स्थिर करने को समर्थ नहीं है तो हे धनंजय, अभ्यासयोग के द्वारा मुझ को पाने की इच्छा कर ॥६॥

अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि भूतकर्मपरमो भव ।

मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन्सिद्धिमवाप्स्यसि ॥७॥

यदि अभ्यास करने में भी तू समर्थ न होतो मेरे प्रति कर्मों का आचरण कर । मेरे निमित्त कर्मों का आचरण करता हुआ भी तू मोक्षरूप सिद्धि पावेगा ॥७॥

अथैतदप्यशक्तोऽसि कर्तुं मद्योगमाश्रितः ।

सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु यतात्मवान् ॥८॥

यदि यह भी करने को तू अशक्त हो तो मन का संग्रह कर अनन्यभाव से मेरा आश्रय ले सर्वथा कर्मफल छोड़, कर्म का आचरण कर ॥८॥

श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद्ध्यानं विशिष्यते ।

ध्यानात्कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम् ॥९॥

वर्षोंकि अभ्यास से ज्ञान, ज्ञान से ध्यान, और ध्यान से

कर्मफल का परित्याग उत्तम है। और त्याग से जल्दी शान्ति प्राप्त होती है ॥१२॥

अद्वेष्टः सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च ।

निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी ॥१३॥

संतुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः ।

मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मे भक्तः स मे प्रियः ॥१४॥

जो किसी से द्वेष नहीं करता, सब प्राणियों का मित्र, दयावान्, ममता से छूटा, अहंकार रहित, सुख तथा दुःख को समान मानने वाला, शान्त, सर्वकाल में संतुष्ट, योगी अर्थात् स्थिरचित्त, मन को अपने अधीन रखने वाला, दृढनिश्चय, मुझ में मन तथा बुद्धि को अर्पण करने वाला है वह मेरा भक्त है। वह मुझको प्यारा है ॥१३॥ ॥१४॥

यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः ।

हर्षमिर्षमयोर्द्वेगं मुक्तो यः स च मे प्रियः ॥१५॥

जो किसी को न उद्विग्न करता है, न किसी से उद्विग्न होता है, ऐसा जो हर्ष, अमर्ष (दूसरों के लाभ से डरना) और उद्वेग से अलग हो, वह मेरा प्रिय है ॥१५॥

अनपक्षः शुचिदंक्ष तदासीनो गतव्यथः ।

सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भुक्तः स मे प्रियः ॥१६॥
जो मिले उसी में संतुष्ट, पवित्र, प्रवीण, पक्षपात से रहित,
खेदशून्य, फल की वासना छोड़ कर्मों का करने वाला मेरा
भवत है वह मुझे प्यारा है ॥१६॥

यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न कांक्षति ।

शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान्यः स मे प्रियः ॥१७॥
जो प्रिय वस्तु पाकर प्रसन्न न हो, किसी से द्वेष न
रखता हो, इष्ट पदार्थ के नष्ट होने से शोक को न प्राप्त
हो, किसी वस्तु पर लोभ न करता हो, अशुभ तथा शुभ
इन दोनों का त्याग करने वाला भक्तिमान् हो, वह मेरा
प्रिय है ॥१७॥

समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः ।

शीतोष्णसुखदुःखेषु समः सङ्गविवर्जितः ॥१८॥

तुल्यानन्दास्तुतिर्माँनी संतुष्टो येन केनचित् ।

अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो मतः ॥१९॥

शत्रु मित्र, मान और अपमान में एक-सा रहने वाला,
जाड़ा गर्मी, सुख और दुःख में एकाकार, सङ्गरहित, निंदा

और स्तुष्ट को तुल्य मानने वाला, जो कुछ मिले उसी में संतुष्ट, नियम से एक स्थान में वास करने वाला नहीं वह स्थिःबुद्धि. भवितव्यान् पुरुष मुझे प्यारा है ॥१८॥ ॥१९॥

ये तु धर्म्यामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते ।

अहंवाता मत्परमा भक्तास्तेऽजीव मे प्रियः ॥२०॥

जो मुझमें अहं रखकर मुझको सर्वस्व मान इस मेरे कहे हुए अमृतसरीखे धर्मयुक्त उद्देश का आचरण करते हैं, वे मुझको अत्यन्त प्यारे हैं । २०॥

इति श्रीमद्भगवद्गीता० भक्तियोगो नाम द्वादशोऽध्यायः ॥१२॥

त्रयोदश अध्यायः पुरुष विशेषयोग

श्रीभगवानुवाच

इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते ।

एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः ॥१॥

श्रीभगवान् बोले—कौन्तेय, यह शरीर क्षेत्र कहा जाता है, और जो इस क्षेत्र को जाने, उसे उस विषय के जानने वाले को क्षेत्रज्ञ कहते हैं ॥१॥

क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम । २॥

हे भारत, सम्पूर्ण क्षेत्रों में क्षेत्रज्ञ मुझको जान। क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का जो यथार्थ ज्ञान है, वही मुझे पसन्द है ॥२॥

तत्क्षेत्रं यच्च यादृक् च यद्विकारि यतश्च यत् ।

स च यो यत्प्रभावश्च तत्समासेन मे शृणु ॥३॥

वह क्षेत्र जिस भाँति का है, जिन विकारों से युक्त है, और जिससे उत्पन्न होता है, जैसा है, और जिन प्रभावों से उत्पन्न है वह सब संक्षेप से कहता हूँ, सुन ॥३॥

ऋषिभिर्बहुधा गीतं छन्दोभिर्विविधैः पूयक् ।

ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिविनिश्चितैः ॥४॥

अनेक ऋषियों द्वारा अनेक भाँति के छन्दों में व्यक्त करके और युक्तिपूर्ण ब्रह्मसूत्र के पदों द्वारा विविध रूपों में कहा गया है ॥४॥

महाभूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च ।

इन्द्रियाणि दशकं च पञ्च चेन्द्रियगोचराः ॥५॥

इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं संघातश्चेतना धृतिः ।

एतत्क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम् ॥६॥

पाँच महानूत, अहंकार, बुद्धि, अचेतन (मूल प्रकृति)
 ग्यारह इन्द्रिय, और इन्द्रियों के पाँच विषय, इच्छा, द्वेष,
 सुख, दुःख, ज्ञानात्मक प्रश्न और वैयं, ये संक्षेप से क्षेत्र
 और उस क्षेत्र के विस्तार कहे गये हैं ॥५॥ ॥६॥

अमानित्वमदम्भित्वमहिंसा क्षान्तिराजं वम् ।

आचार्योपासनं शौचं स्थैर्यमात्मविनिग्रहः ॥७॥

इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहंकार एव च ।

जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुवर्शनम् ॥८॥

असवितरनभिष्वङ्गः पुत्रदारगृहादिषु ।

नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु ॥९॥

मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी ।

विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि ॥१०॥

अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदशनम् ।

एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यवतोऽन्यथा ॥११॥

अभिमान व दम्भरहित स्थिति, अहिंसा, सहिष्णुता
 सरलता, सद्गुरु के प्रति सद्भाव, बाहर की शुद्धि,
 स्थिरता और अपने शरीरेन्द्रियों के संयम, इन्द्रियों के
 विषयों में विरक्ति, निरहंकार और जन्म, मृत्यु, बुढ़ापा,

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.
 व्याधि, तथा दुःख में दोष देखना, पुत्र, स्त्री, गृह आदि
 से विरक्ति और उनके सुख दुःखों में अत्यन्त दृष्टि न
 देना, इष्ट तथा अनिष्ट में सदा एक-सा रहना, मेरे विषय
 में अनन्य भाव से भक्ति, चित्त को प्रसन्न करने वाले
 पवित्र देश में निवास, विषयासक्त जनों की सभा में
 अप्रीति, अव्यात्मज्ञान (जीव माया ईश्वरादिकों का
 विवेक) और तत्त्वज्ञान के प्रयोजन मोक्ष का अवलोकन,
 यह सब ज्ञान कहलाता है इससे अन्य अज्ञान है । ॥७॥
 ॥८॥ ॥९॥ ॥१०॥ ॥११॥

ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वामृतमश्नुते ।

अनाविमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासबुध्यते ॥१२॥

जिसको जानकर मोक्ष प्राप्त होता है उस ज्ञेय के विषय
 में कहता हूँ, वह अनादि, परब्रह्म, सत् (विद्यमान)
 असत् (अविद्यमान) से रहित है ॥१२॥

सर्वतः पाणिपावं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम् ।

सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ॥१३॥

वह सर्वत्र, हाथ, पैर, आँख, सिर, मुँह और कान वाला
 है । वह लोक में सबको व्याप्त करके स्थित है ॥१३॥

सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम् ।

असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च ॥१४॥

वह सारे इन्द्रियों के गुणों का प्रकाशस्थान होकर भी सब इन्द्रियों से हीन है । संहरहित होकर भी सारे ब्रह्माण्ड को धारण करने वाला है और सत्त्व, रज, तम गुणों से अलग भी सत्त्वादि गुणों का भोक्ता है ॥१४॥

बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च ।

सूक्ष्मत्वात्तद्विज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत् ॥१५॥

वह सारे भूतों के बाहर और भीतर चर तथा अचर है, सूक्ष्म होने से जानने के योग्य नहीं है, अज्ञानियों से दूर है, और ज्ञानियों के निकट भी है ॥१५॥

अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम् ।

भूतभर्तुं च तज्ज्ञेयं प्रसिष्णु प्रभविष्णु च ॥१६॥

वह भूतों के विषय में अविभक्त अर्थात् अलग-अलग न बंटा हुआ भी, बंटा सा स्थित है और सारे भूतों का पोषण, संहार तथा उत्पत्ति करने वाला है ॥१६॥

व्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते ।

ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगयं हृदि सर्वस्य धिष्ठितम् ॥१७॥

वह सूर्य, चन्द्र आदि का प्रकाशक, तम (अज्ञान) से परे
 वहा जाता है। वही ज्ञान, ज्ञेय (ज्ञान करने के योग्य)
 वा ज्ञान के द्वारा जानने के योग्य सबके हृदय में टिका है
 ॥१७॥

इति क्षेत्रं तथा ज्ञानं ज्ञेयं चोक्तं समाप्तः ।

मद्भक्त एतद्विज्ञाय मद्भावायोपपद्यते ॥१८॥

इस प्रकार क्षेत्र, ज्ञान और ज्ञेय को संक्षेप में कहा है।
 मेरा भक्त यह जानकर मेरे पद के पाने के योग्य होता
 है ॥१८॥

प्रकृति पुरुषं चैव विबुध्यन्तादौ उभावपि ।

विकारांश्च गुणांश्चैव विद्वि प्रकृतिसंभवान् ॥१९॥

प्रकृति (सम्पूर्ण जडपदार्थ) और पुरुष (चैतन्य) ये दो
 अनादि हैं ऐसा तू जान। विकार अर्थात् शरीर आदि
 इन्द्रिय, गुण, (सत्त्व, रज, तम) और उनके सुख दुःख,
 मोह आदि परिणाम, ये सब प्रकृति से उत्पन्न होते हैं,
 ऐसा जान ॥१९॥

कार्यकारणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते ।

पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते ॥२०॥

कार्य (शरीर), कारण (सुख. दुःख मोहादि के साधन इन्द्रिय) को प्रकृति उत्पन्न करती है और पुरुष (चैतन्य) सुख दुःखों का अनुभव करने वाला है, ऐसा कहा जाता है ॥२०॥

पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान्गुणान् ।

कारणं गुणसङ्गोऽस्य सवसद्योनिःस्थान्मसु ॥२१॥

प्रकृति में टिका हुआ पुरुष प्रकृति से उत्पन्न हुए गुणों का उपभोग करता है । और इसके उत्तम तथा अधम योनि के बीच जन्म लेने में गुणसङ्ग कारण है ॥२१॥

उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः ।

परमात्मेति चाप्युक्तो वेहेऽस्मिन्पुरुषः परः ॥२२॥

इस देह के बीच वह समीप से देखने वाला, अनुमोदन करने वाला, कर्ता वर्ता, पालक, महेश्वर, परमात्मा और परमपुरुष, कहा गया है ॥२२॥

य एवं वेति पुरुषं प्रकृतिं च गुणैः सह ।

सर्वथा वर्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते ॥२३॥

इस भांति गुणों के साथ प्रकृति और पुरुष को जो जानता है वह सर्वथा व्यवहार में प्रवृत्त हुआ भी दूसरे जन्म को नहीं पाता ॥२३॥

अयानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना ।

अन्ये सांख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे ॥२४॥

कोई ध्यानयोग के द्वारा, कोई सांख्ययोग के द्वारा और कोई कर्मयोग के द्वारा मन से अपने में आत्मा को देखते हैं ॥२४॥

अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वान्येभ्य उपासते ।

तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः । २५॥

परन्तु कुछ लोग इस भांति न जानते हुए भी दूसरों से सुनकर उपासना करते हैं, और श्रद्धा से उपदेश ग्रहण करके वे भी मृत्यु रूपी मनुष्य से तर जाते हैं ॥२५॥

यावत्संजायते किञ्चित्सत्त्वं स्थावरजंगमम् ।

क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात्तद्विद्धि भरतर्षभ ॥२६॥

हे भरत-श्रेष्ठ, जो कुछ स्थावर अर्थात् स्थिर और जंगम चर पदार्थ उत्पन्न होता है, वह राव क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के संयोग से उत्पन्न होता है, ऐसा तू जान ॥२६॥

समः सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम् ।

विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति ॥२७॥

जो परमेश्वर को सारे भूतों में वर्तमान और उन भूतों के

नष्ट होने पर भी नष्ट अर्थात् ज्यों का त्यों बना हुआ
देखता है वही देखता है ॥२७॥

समं पश्यन्हि सर्वत्र समवस्थितमोश्वरम् ।

न हिनस्त्यात्मनात्मानं ततो याति परां गतिम् ॥२८॥

जो सर्वत्र एक भांति टिके हुए परमेश्वर को समान ही
देखता है वह अपने द्वारा अपने को नष्ट नहीं करता
(अविद्या द्वारा आत्मा का तिरस्कार करके उसको नहीं
नष्ट करता) वह मोक्षरूप परमगति पाता है ॥२८॥

प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः ।

यः पश्यति तथात्मानमकर्तारं स पश्यति ॥२९॥

जो यह जानता है कि प्रकृति द्वारा सारे कर्म किये जाते
हैं और आत्मा को अकर्ता देखता है, वही देखता है ॥२९॥

यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति ।

तत एव च विस्तारं ब्रह्म संपद्यते तदा ॥३०॥

जब पुरुष चर अचर पदार्थों में स्थित भूतों को परमेश्वर
के बीच एक रूप देखता है और उसी से उनकी उत्पत्ति
देखता है, तब वह ब्रह्मस्वरूप हो जाता है ॥३०॥

अनावित्त्वान्निगुणत्वात्परमात्मायमव्ययः ।

शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते ॥३१॥

हे कौन्तेय, अनादि तथा गुणों से अलग होने के कारण अविनाशी शरीर में टिका हुआ यह परमात्मा न तो कुछ करता है और न कर्मों से बद्ध होता है ॥३१॥

यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकांशं नोपलिप्यते ।

सर्वत्रावस्थितो देहे तथात्मा नोपलिप्यते ॥३२॥

जैसे सर्वव्यापक आकाश अतिसूक्ष्मपने से लिप्त नहीं होता इसी भाँति सर्वज्ञ शरीर में टिका हुआ आत्मा सागैरिक दोषों से लिप्त नहीं होता ॥३२॥

यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः ।

क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत ॥३३॥

जैसे एक ही सूर्य इस सारे लोक को प्रकाशित करता है वैसे ही हे भारत, क्षेत्री अर्थात् परमात्मा सम्पूर्ण क्षेत्र को प्रकाशित करता है ॥३३॥

क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवमंतरं ज्ञानचक्षुषा ।

भूतप्रकृतिमोक्षं च ये विदुर्मान्ति ते परम् ॥३४॥

इस भाँति ज्ञानदृष्टि से क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के अन्तर को तथा भूतों की प्रकृति जो अविद्यारूप माया से छूटने के उपाय को जानते हैं वे परमपद को पाते हैं ॥३४॥

इति श्रीमद्भगवद्गीता० पृथ्वीपुरुषनिर्देशयोगो नाम

त्रयोदशोऽध्यायः ॥१३॥

चतुर्दश अध्यायः गुणत्रयविभाज्य योग

श्रीभगवानुवाच ।

परं भूयः प्रवक्ष्यामि ज्ञानानां ज्ञानमृत्तमम् ।

यज्ज्ञात्वा मुनयः सर्वे परां सिद्धिमितो गताः ॥१॥

० भगवान् बोले—फिर भी ज्ञानों में श्रेष्ठ ज्ञान तुमको
हता हूं, जिसको जान कर सारे मुनिजन इस देहबन्ध को
इ मोक्षरूप परम सिद्धि को प्राप्त हुए ॥१॥

इवं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः ।

सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च ॥२॥

ज्ञान के आश्रय के मेरे स्वरूप को प्राप्त हुए जन सृष्टि-
लमें उत्पन्न नहीं होते, और प्रलय काल में वध्या नहीं
ते ॥२॥

मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन्नाभं दधाम्यहम् ।

संभवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत ॥३॥

भारत, यह महत् ब्रह्म मेरा गर्भ स्थल है, इसमें मैं
रखता हूँ और उससे सारे भूतों की उत्पत्ति होती
॥३॥

सर्वयोनिषु कौतेय मृत्यः सम्यज्जात याः

तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता ॥४॥

हे कौतेय, सब योनियों में जो शरीर उत्पन्न होता है वह सबका उत्पत्तिस्थान महत् ब्रह्म है और उस में बीज देने वाला पिता मैं हूँ ॥४॥

सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसंभवाः ।

निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम् ॥५॥

हे महाबाहो, सत्त्व, रज, तम ये गुण प्रकृति से उत्पन्न होते हैं, और वे अव्यय अर्थात् निर्विकार, देह में निबध्न इस देही को बाँधते हैं ॥५॥

तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात्प्रकाशकमनामयम् ।

सुखसंगेन बध्नाति ज्ञानसंगेन चानघ ॥६॥

हे निष्पाप, उनमें सत्त्वगुण निर्मल होने के कारण प्रकाश और निरुपद्रव है वह देही को सुख और ज्ञान के संगे बाँधता है ॥६॥

रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णासङ्गसमुद्भवम् ।

तन्निबध्नाति कौतेय कर्मसंगेन देहिनम् ॥७॥

हे कौतेय, तृष्णा और आसङ्ग (मिली हुई बातें)

(सक्ति) से उत्पन्न होने वाले रजोगुण को रागात्मक
न, वह देही को कर्मों के सङ्ग से बाँधता है ॥७॥

तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम् ।

प्रमादालस्यानिद्राभिस्तन्निबध्नाति भारत ॥८॥

भारत, कुल में उत्पन्न, सारे प्राणियों पर अविवेकका
डालने वाले तमोगुण को अज्ञान से उत्पन्न होने वाला
। वह प्रमाद, आलस्य और निद्रा द्वारा देही को
ता है ॥८॥

सत्त्वं सुखे संजयति रजः कर्मणि भारत ।

ज्ञानमावृत्य तु तमः प्रमादे संजमत्युत ॥९॥

भारत, सत्त्वगुण के उदय होने से सुख और रजोगुणके
होने से कामों में प्रवृत्ति होती है, परन्तु तमोगुण
हो कर ज्ञान का चारों ओर से रोक कर देही को
में लाता है ॥९॥

रजस्तमश्चाभिभूय सत्त्वं भवति भारत ।

रजः सत्त्वं तमश्चैव तमः सत्त्वं रजस्तथा ॥१०॥

भारत, रजोगुण और तमोगुण को दबाकर सत्त्वगुण
है । सत्त्वगुण और तमोगुण को दबाकर रजोगुण
CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

होता है, और सत्त्वगुण तथा रजोगुण को तमोगुण दब कर उदय होता है ॥१०॥

सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन्प्रकाश उपजायते ।

ज्ञानं यदा तदा विद्याद्विवृद्धं सत्त्वमित्युत ॥११॥

इस शरीर के बीच जब सारे इन्द्रिय द्वारों में ज्ञान प्रकाश उत्पन्न हो, तब सत्त्वगुण की विशेष वृद्धि जाती है ॥११॥

लोभः प्रवृत्तिरारम्भः कर्मणामशमः स्पृहा ।

रजस्येतानि जायन्ते विवृद्धे भरतर्षभ ॥१२॥

हे भरतर्षभ, रजोगुणकी वृद्धि में लोभ, कर्म में प्रवृत्ति, कर्मोंका आरम्भ, अशान्ति, और तृष्णा, ये सब हैं ॥१२॥

अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च प्रमादो मोह एव च ।

तमस्येतानि जायन्ते विवृद्धे कुरुनन्दन ॥१३॥

हे कुरुनन्दन, तमोगुणकी वृद्धि में विवेकका नाश, अज्ञानता, प्रमाद अर्थात् अवश्य करने योग्य कर्म में और मोह (मूढ़ता) से ये सब होते हैं ॥१३॥

यदा सत्त्वे प्रवृद्धे तु प्रलयं याति देहभृत् ।

तदोत्तमविदां लोकानमलान्प्रतिपद्यते ॥१४॥

जब देही सत्त्वगुण के उदय काल में दिवंगत होता है तब वह उत्तम जनों के निर्मल लोक को जाता है ॥१४॥

रजसि प्रलयं गत्वा कर्मसङ्गिषु जायते ।

तथा प्रलीनस्तमसि मूढयोनिषु जायते ॥१५॥

रजोगुण के उदय में मृत्यु पाने वाला कर्मों में आसक्त मनुष्यों में जन्म पाता है । और तमोगुण के उदय-काल में मृत्यु पाकर मूढयोनि (पशु आदिक) में जन्म पाता है ॥१५॥

कर्मणः सुकृतस्पाहुः सात्त्विकं निर्मलं फलम् ।

रजसस्तु फलं दुःखमज्ञानं तमसः फलम् ॥१६॥

पुण्यरूप सात्त्विक कर्म का निर्मल सुखरूप सात्त्विक फल, राजसकर्म का दुःखफल और तामसकर्म का अज्ञान फल कहते हैं ॥१६॥

सत्त्वात्संजायते ज्ञानं रजसो लोभ एव च ।

प्रमादमोहो तमो भवतोऽज्ञानमेव च ॥१७॥

सत्त्वगुण से ज्ञान, रजोगुण से लोभ और तमोगुण से

प्रमाद, मोह तथा अज्ञान उत्पन्न होता है ॥१७॥

ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः ।

अधन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः ॥१८॥

सत्त्वगुण में स्थित पुरुष उत्तम गति को, रजोगुणी मध्यम गति को, और अधम गुण की वृत्ति निद्रा आलस्य आदि में रहने वाले तमोगुणी अधोगतिको जाते हैं ॥१८॥

नान्यं गुणेष्वः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति ।

गुणेष्वश्व परं वेत्ति यद्भावं सोऽधिगच्छति ॥१९॥

जो द्रष्टा सत्त्व रज तम गुणों से अलग और उसी कर्ता को नहीं देखता, और उन गुणों से अलग (निर्गुण) साक्षिमात्र आत्मा को जानता है वह मेरे स्वरूप को प्राप्त होता है ॥१९॥

गुणानेतानतीत्य श्रीन्वेही देहसमुद्भवान् ।

जन्ममृत्युजरादुःखैर्विमुक्तोऽमृतमश्नुते ॥२०॥

शरीर-धारी शरीर में उत्पन्न होने वाले इन तीनों गुणों को जीतकर जन्म, मृत्यु, वृद्धावस्था, और रोग से मुक्त हो मोक्ष को पाता है ॥२०॥

अर्जुन उवाच

कैलिङ्गं स्त्रीगुणानेतानतीतो भवति प्रभो ।

किमाचारः कथं वंतांस्त्रीगुणानतिवर्तते ॥२१॥

अर्जुन बोला—हे प्रभो, किन चिह्नों से युक्त देही इन तीनों गुणों से अतीत होता है, और उसका क्या आचार है और वह किस भाँति तीनों गुणों से अतीत होता है ॥२१॥

श्रीभगवानुवाच

प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पाण्डव ।

न द्वेष्टि संप्रवृत्तानि न निवृत्तानि काट्क्षति ॥२२॥

श्री भगवान् बोले—हे पाण्डव, सत्त्वगुण का परिणाम प्रकाश, रजोगुण का प्रवृत्ति और तमोगुण का मोह है। इसके प्रवृत्त होने में जो आस को न प्राप्त हो और निवृत्त होने में उनकी इच्छा न करे (वह गुणातीत है) ॥२२॥

उदासीनवदासीनो गुणैर्यो न विचार्यते ।

गुणा वर्तन्त इत्येव योऽवतिष्ठति नेङ्गते ॥२३॥

जो साक्षी भाव से सुखदुःख को एक समान मान गुणों से वंचित नहीं होता और 'गुण अपने कार्यों में प्रवृत्त होते हैं'

ऐसा सोच कर विचिंत नहीं होता (वह गुणातीत है) ॥२३॥

समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकाञ्चनः ।

तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः ॥२४॥

सुखदुःख को एकसा मानने वाला, स्वस्थ (विकार हीन) मिट्टी, पत्थर और सुवर्ण को एक सी दृष्टि से देखने वाला, प्रिय तथा अप्रिय वस्तु में समावबुद्धि, निन्दा तथा स्तुति में एकसा रहने वाला, धीर पुरुष (गुणातीत है) ॥२४॥

मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः ।

सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते ॥२५॥

जो मान-अपमान में एकसा, और मित्र पक्ष तथा शत्रु-पक्ष में तुल्यदृष्टि, कर्मों के फल की वासना छोड़ने वाला व्यक्ति गुणातीत कहा जाता है ॥२५॥

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते ।

स गुणान्समतीत्येतां ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥२६॥

जो मुझको अखण्ड भक्तियोग से सेवता, है, वह इन सब गुणों को भली भाँति जीतकर ब्रह्मस्वरूप (मुक्त होने के योग्य) होता है ॥२६॥

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च ।

शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च ॥२७॥

क्योंकि ब्रह्म का और विकारहित मोक्ष का और सदा
चले आते हुए धर्म का अखण्ड और सुख का आश्रय स
हैं ॥२७॥

इति श्रीमद्भगवद्गीता० गुणत्रयविभागो नाम
चतुर्दशोऽध्यायः ॥१४॥

पंचदश अध्यायः पुरुषोत्तम योग
श्रीभगवानुवाच

ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम् ।

छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित् ॥१॥

श्रीभगवान् बोले—यह संसार एक पीपल का वृक्ष है,
जिसका मूल (जड़) पुराणगुरुप, शाखा चराचर और पत्र
वेद हैं । इस प्रकार यह अनश्वर (मीमांसाशास्त्र के जानने
वाले) उसे अव्यय अर्थात् अविनाशी कहते हैं । जो उसको
यथार्थ जानता है, वह वेद जानता है ॥१॥

अधश्चोर्ध्वं प्रसृतास्तस्य शाखा

गुणप्रवृद्धा विषयप्रवालाः ।

अथश्च मूलान्यनुसंततानि

कर्मनिबन्धीनि मनुष्य-लोके ॥२॥

पशु आदि योनि के जीव उसकी अधः शाखाएँ उत्तम योनि में जन्म धारण करने वाले ऊर्ध्व शाखाएं, सत्त्व रज तम रूपी जल से सिंचित होकर यह भलीभाँति वृद्धि को प्राप्त है। शब्द रूपादि इन्द्रियों के विषय कोमलपत्र के उनकी भूषित शाखाएँ हैं। जो ऊपर तथा नीचे कर्मों के अनुसार फैले हुए हैं ॥२॥

न रूपमस्येह तथोपलभ्यते

नान्तो न चादिर्न च संप्रतिष्ठता ।

अश्वत्थमेनं सुविरूढमूल-

मसङ्गशस्त्रेण वृधेन छित्त्वा ॥३॥

ततः पदं तत्परिमाणितव्यं

यस्मिन्गता न निवर्तन्ति भूयः ।

तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये

यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी ॥४॥

ऐस प्रकार उसका रूप, अन्त, प्रादि ओर स्थिति, सामान्य ज्ञान से दिखाई नहीं देती, तथापि इस बद्धमूल पीपल वृक्ष

अध्याय १५
को विनिवृत्ति के लिये दृढ़ अस्त्र से काटकर अनन्तर जिस स्थान
को गये हुए लोग फिर (वहाँ से) नहीं लौटते, ऐसे स्थान
का अन्वेषण करना योग्य है और जिस पुत्रातन पुरुष से
यह चिरंतन संसार की वृत्ति चल रही है उसी आदिपुरुष
के शरणागत हूँ, ऐसी भावना करनी चाहिए ॥३॥४॥

निर्मानमोहा जितसङ्गदोषा

अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः ।

द्वंद्वविमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञ-

गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत् ॥५॥

अहंकार मोह रहित, प्रियजन के सङ्गरूपी दोष को जीतने
वाले, आत्मज्ञान में लीन कामनाओं से रहित सुख-दुःख
आदि द्वन्द्व पदार्थों से मुक्त ज्ञानीजन उस अविनाशी पर-
मपद को प्राप्त होते हैं ॥५॥

न तद्भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः ।

यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥६॥

जो स्वयं प्रकाश-रूप है सूर्य चन्द्रमा और अग्नि जिसे
प्रकाशित नहीं करते और जहाँ पर जाकर लोग फिर इस
संसार चक्र में नहीं पड़ते, वह मेरा परम धाम अर्थात्
उत्कृष्ट स्थान है ॥६॥

समंवांशो जीवलोकं जीवभूतः सनातनः ।

मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति ॥७॥

इस जीवलोक में जीव मेरा अंश है, प्रलयकाल में प्रकृति में टिके हुए पांच इन्द्रिय और छठे मन को भोगार्थ आकृष्ट करता है ॥७॥

शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः ।

गृहीत्वंतानि संयाति वायुर्गन्धानिवाशयात् ॥८॥

जैसे वायु पुष्पादि से गन्ध को लेकर दूसरे स्थान को जाता है, इसी प्रकार यह जीवन जब किसी अन्य शरीर को जाता है पूर्व शरीर से फल सहित इन्द्रियों को ले जाता है ॥८॥

श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनं च रसनं घ्राणमेव च ।

अधिष्ठाय मनश्चायं विषयानुपसेवते ॥९॥

कान, आंख, त्वचा, जीभ, नाक और मन का आश्रय लेकर यह जीव विषयों का उपभोग करता है ॥९॥

उत्क्रामन्तं स्थितं यापि भुञ्जानं वा गुणान्वितम् ।

विमूढा नानुपश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः ॥१०॥

एक देह से दूसरे देह को जाते, अथवा एक ही देह में रहते

अथवा इन्द्रियोसे युक्त हो विषयों का उपभोग करते हुए इस (जीव) को मूढ़ जन नहीं देखते किन्तु जिन के ज्ञानरूप नेत्र हैं वे देखते हैं ॥१०॥

यतन्तो योगिवश्चैनं पश्यन्त्यात्मन्यवस्थितम् ।

यतन्तोऽप्यकृतात्मानो नैनं पश्यन्त्यचेतसः ॥११॥

योगी लोग (ध्यानादि से इस (आत्मा) को देखते हैं । परन्तु जिनके हृदय में ज्ञान का संस्कार उत्पन्न नहीं हुआ, ऐसे मन्दमति यत्न करने से भी अपनी बुद्धि में रहने वाले इसे नहीं देखते ॥११॥

यवादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम् ।

यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम् ॥१२॥

सूर्य, चन्द्रमा और अग्नि में प्रकाशित करने वाला तेज मेरा (तेज) है, ऐसा तू जान ॥१२॥

गाभाविश्य च भूतानि घात्याम्यहमोजसा ।

पुष्णामि चौषधीः सर्वाः सोमो भूत्वा रसात्मकः ॥१३॥

मैं पृथ्वी में अपनी शक्ति प्रवेश करके सारे भूतों को धारण करता हूँ । और मैं ही रसस्वरूप सोम होकर संपूर्ण औषधियों का पोषण करता हूँ ॥१३॥

प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम् ॥१४॥

मैं जठराग्नि होकर प्राणियों के शरीर में प्रविष्ट हूँ, और प्राणवायु तथा अपानवायु से संयुक्त हुआ चार प्रकार के (भोज्य, भक्ष्य, चोष्य और लेह्य) अन्न को पचाता हूँ ।
॥१४॥

सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो

मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च ।

वेदंश्च सर्वैरहमेव वेद्यो

वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम् ॥१५॥

मैं सबके हृदय में भलीभांति प्रविष्ट हूँ; मुझसे स्मृति, ज्ञान और तर्क उत्पन्न होता है । संपूर्ण वेदों के द्वारा जानने योग्य वस्तु मैं हूँ । वेदान्त का निर्माण करने वाला मैं हूँ । और वेदों का ज्ञाता मैं हूँ ॥१५॥

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च ।

क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते ॥१६॥

इस लोक में क्षर (नाशवान्) अक्षर (अविनाशी) ये दो पुरुष हैं, संपूर्ण चराचर क्षर और उसमें स्थिर चैतन्य अविनाशी ॥१६॥

यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यध्यय ईश्वरः ॥१७॥

इससे अन्तर उत्तम पुरुष परमात्मा कहा गया है, जो अविनाशी ईश्वर तीनों लोकों को व्याप्त करके उनका धारण तथा पोषण कर रहा है ॥१७॥

यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः ।

अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः १८॥

जिस कारण मैं क्षर से परे और अक्षर से उत्तम हूँ, इसलिए लोक तथा वेद में पुरुषोत्तम कहा जाता हूँ ॥१८॥

यो मामेवमसमूढो जानाति पुरुषोत्तमम् ।

स सर्वविद्वज्जति मां सर्वभावेन भारत ॥१९॥

हे भारत, जो मोह से मुक्त हुआ मुझ को पुरुषोत्तम जानता है, वह सर्वज्ञ सब प्रकार से मुझको अजता है ॥१९॥

इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयानघ ।

एतद्बुद्ध्वा बुद्धिमान्स्यात्कृतकृत्यश्च भारत ॥२०॥

हे निष्ठाप भारत, इस प्रकार यह अत्यन्त गुप्त शास्त्र तुम्हें मैंने कहा । उसको जानकर मनुष्य, ज्ञानी और कृतकृत्य होता है ॥२०॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु पुरुषोत्तमयोगो नाम
पञ्चदशोऽध्यायः ॥१५॥

षोडशोऽध्यायः
दैवासुर संपद् विभागयोग
श्रीभगवानुवाच ।

अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्जनियोगव्यवस्थितिः ।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जनम् ॥१॥
अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम् ।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम् ॥२॥
तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता ।
भवन्ति संपदं दैवीमभिजातस्य भारत ॥३॥

श्रीभगवान् बोले — अभय, चित्त की शुद्धि, ज्ञान प्राप्ति का
उद्योग, दान, इन्द्रियों का संयम, यज्ञ, वेदाध्ययन, तप,
सरलता, अहिंसा, सत्य, अक्रोध, त्याग (उदारता),
शान्ति, अपैशुन्य (परदोश-अप्रकाशन), प्राणियों पर दया,
विषयों में लोलुप न होना, मृदुता, लज्जा, चपलता का
त्याग, प्रोढ़ता, क्षमा, धीरता, शौच (बाहर और भीतर)

से शुद्धि, अद्रोह और अपने अतिमान का अभाव, हे भारत,
ये सब दैवी संपत्ति भोगने वाले पुरुष के लक्षण हैं ॥१॥
॥२॥३॥

दम्भो दर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पातुष्यमेव च ।

अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ संपदमासुरीम् ॥४॥

हे पार्थ, दम्भ, गर्व, मान, क्रोध, कठोरता और अज्ञान,
ये सब आसुरी संपत्ति भोगने के अर्थ जन्मने वाले पुरुषों
को प्राप्त होते हैं ॥४॥

दैवी संपद्विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता ।

मा शुचः संपदं दैवीमभिजातोऽसि पाण्डव ॥५॥

हे पाण्डव, दैवी संपत्ति से मोक्ष और आसुरी संपत्ति से
बन्धन होता है । तू शोक मत कर, क्योंकि तू दैवी संपत्ति
भोगने के लिए उत्तम कुल में पैदा हुआ है ॥५॥

द्वौ भूतासर्गौ लोकेऽस्मिन्दैव आसुर एव च ।

दैवो विस्तरशः प्रोक्त आसुरं पार्थ मे शृणु ॥६॥

इस लोके में प्राणियों की दैवी तथा आसुरी ऐसी दो
प्रकार की सृष्टि है । उनमें दैवी सृष्टि का विस्तारपूर्वक
कथन किया, अब हे पार्थ, आसुरी सृष्टि सुन ॥६॥

न शीघ्रं नापि चादरो न सत्यं तेषु विद्यते ॥७॥

आमुर स्वभाव वाले जन यह नहीं जानते कि प्रवृत्ति तथा निवृत्ति किस भांति की होती है, और उन में शीघ्र, आचार, सत्य ये नहीं होते ॥७॥

असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदादुरनीश्वरम् ।

अपरस्परसंभूतं किमन्यत्कामहेतुकम् ॥८॥

वे इस जगत् को असत्य (वेदादि प्रमाण रहित), धर्म व्यवस्था रहित और अनीश्वर (नहीं है ईश्वर कर्ता जिसका) कहते हैं । और वे जगत् का कारण काम-प्राप्ति स्त्री-पुरुषों का संयोग मानते हैं ॥८॥

एतां दृष्टिमवष्टम्य नष्टात्मानोऽल्पबुद्धयः ।

प्रभवन्त्युग्रकर्माणि क्षयाय जगतोऽहिताः ॥९॥

मलिनचित्त, अल्पबुद्धि, क्रूर कर्म करने वाले जगत् के शत्रु की भांति जगत् का नाश करने के लिए उत्पन्न होते हैं । ॥९॥

काममाश्रित्य दुष्पूरं दम्भमानमादन्विताः ।

मोहाद् गृहीत्वा सव्याहान्प्रवर्तन्तेऽशुचिव्रताः १०॥

दुःख से पूर्ण होने के योग्य अनिलाषा का आश्रय लेकर वे दम्भ, मान और मद से युक्त अशुचि व्रत (उच्चाटन वर्गीकरण) करने वाले के अशुभ विचार स्वीकार करके सर्वत्र प्रवृत्त होते हैं ॥१०॥

चिन्तामपरिमेयां च प्रलयान्तामुपाश्रिताः ।

कामोपभोगपरमा एतावदिति निश्चिताः ॥११॥

वे मरणपर्यन्त चिन्ता से व्याप्त, कामोपभोग ही एक परम पुरुषार्थ है, दूसरा कोई नहीं, ऐसा मानते हैं ॥११॥

आशाशशतैर्बद्धाः कामक्रोधपरायणाः ।

ईहन्ते कामभोगार्थमन्यायेनार्थसंचयम् ॥१२॥

अनेक आशारूप पाशों से बँधे, काम क्रोध में तत्पर वे कामोपभोगों के लिए अन्याय से धनोपार्जन की इच्छा करते हैं ॥१२॥

इदमद्य मया लब्धमिमं प्राप्स्ये मनोरथम् ।

इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम् ॥१३॥

असौ मया हतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि ।

ईश्वरोहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान् सुखी ॥१४॥

आद्योऽभिजनवानस्मि कोन्योऽस्ति सदृशो मया ।

यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्य इत्यज्ञानविमोहिताः ॥१५॥

यह मैंने आज पाया, अमृत मनोरथ को पाऊंगा, यह वस्तु मेरे पास है, और यह भी घन फिर मुझको मिलेगा, इस शत्रु को मैंने मारा, औरों को भी मारूंगा, मैं ईश्वर (समर्थ) हूं, भोग्य वस्तु का उपभोग करने वाला हूं, सिद्ध हूं, बलवान् हूं, सुखी हूं, घनाढ्य हूं, और उत्तम कुल में उत्पन्न हुआ हूं, मेरे तुल्य दूसरा कोई नहीं है, मैं यज्ञ करता हूं, दान देता हूं, और प्रसन्न रहता हूं, इस भांति से आसुरी प्रभाव वाले अज्ञान से अत्यन्त मोहित हूँ ॥१३॥ ॥१४॥ ॥१५॥

अनेकाचित्तविभ्रान्ता मोहजालसमावृताः ।

प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुची ॥१६॥

अनेक भांति के चित्तविवारों वाले भ्रान्त, अज्ञानरूपी जाल से घिरे हुए विषयभोगों में अत्यन्त अनुरक्ता वे अविव्र नरक में पड़ते हैं ॥१६॥

प्रात्मसंभाविताः स्तब्धा धनमानमदान्विताः ।

यजन्ते नाम यज्ञस्ते दम्भेनाविधिपूर्वकम् ॥१७॥

अपने आप अपनी स्तुति करने वाले पूज्यों का सत्कार न करने वाले, धन से उत्पन्न दुःख से युक्त वे पाक्ष्ण्डपने से अविधिपूर्वक यज्ञ करते हैं ॥१७॥

अध्याय १६
Digitized by eGangotri and Sarayu Trust ८३
अहंकार बल दप काम क्रोध च संश्रिताः ।

सामात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकाः ॥१८॥

अहंकार, बल गर्व, काम और क्रोध से युक्त होकर वे अपने और दूसरों के शरीर में स्थित मुक्त अन्तर्यामी के साथ द्वेष करते हुए निन्दा में प्रवृत्त होते हैं ॥१८॥

तानहं द्विषतः क्रूरान्संसारेषु नराधमान् ।

क्षिपाभ्यजलमशुभानामुरीष्वेव योनिषु ॥१९॥

सन्मार्ग के शत्रु, क्रूर, अशुभ कर्म करने वाले उन नीच-मनुष्यों को मैं हमेशा इस संसार में आसुरी योनि में जन्म देता हूं ॥१९॥

आसुरीं योनिमापन्ता मूढा जन्मनि जन्मनि ।

सामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम् ॥२०॥

हे कौन्तेय, वे मूढ़ अनेक जन्मों में असुर-योनि को प्राप्त हो मुझको न पाकर अधम गति को जाते हैं ॥२०॥

त्रिविधं तरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः ।

कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत् ॥२१॥

काम, क्रोध और लोभ ये तीन प्रकार के तरक के द्वार हैं । नीच योनि में डालने वाले इन तीनों का त्याग करना चाहिये ॥२१॥

एतन्विमुक्तः कौन्तेय तमोद्वारंस्त्रिभिर्नरः ।

आचरत्यात्मनः श्रेयस्ततो याति परां गतिम् ॥२२॥

हे कौन्तेय, उन तीन नरकद्वारों से मुक्त मनुष्य अपना कल्याण करता है, इस कारण उत्तम गति को पाता है ॥२२॥

यः शास्त्रविधियुत्सृज्य वर्तते कामकारतः ।

न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम् ॥२३॥

जो शास्त्र में कही हुई विधि को छोड़ अपनी इच्छा के अनुकूल आचरण करे । है वह सिद्धि को नहीं पाता, सुख को नहीं पाता, और उत्तम गति को नहीं पाता ॥२३॥

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ ।

ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुं मिहार्हसि ॥२४॥

इसलिए कर्तव्य और अकर्तव्य की व्यवस्था के लिए शास्त्र प्रमाण है, ऐसा जान । और शास्त्र में कही हुई विधि को जानकर तू यहाँ कर्म करने योग्य है ॥२४॥

इति श्रीमद्भगवद्गीता० देवासुरसंपद्विभक्त्योर्मा भव
षोडशोऽध्यायः ॥१६॥

सप्तदशोऽध्यायः
श्रद्धात्रयविभागयोग
अर्जुन उवाच ।

ये शास्त्रविधिमुत्सृज्य यजन्ते श्रद्धयान्वितः ।

तेषां निष्ठा तु का कृष्ण सत्त्वमाहो रजस्तमः ॥१॥
अर्जुन बोला—हे कृष्ण, जो शास्त्रविधि को छोड़ श्रद्धा-
पूर्वक पूजन करते हैं उनकी किस प्रकार की श्रद्धा है,
सात्त्विकी है, राजसी है अथवा तामसी है ? ॥१॥

त्रिविधा भवति श्रद्धा देहिनां सा स्वभावजा ।

सात्त्विकी राजसी चैव तामसी चेति तां शृणु ॥२॥

श्रीभगवान् बोले—देहियों की स्वभावोत्पन्न (पूर्व जन्म
के संस्कारों से प्रेरित) सात्त्विकी, राजसी और तामसी
ये तीन प्रकार की श्रद्धा हैं आपको सुन ॥२॥

सत्त्वानुरूपं सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत ।

श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः ॥३॥

हे भारत, प्रत्येक (विवेक-युक्त) मनुष्य में स्वभाव पर
विजय निमित्त सत्त्वानुरूप श्रद्धा होती है। जिस भांति
जिसकी श्रद्धा होती है वह वैसा होता है ॥३॥

यजन्ते सात्त्विका देवान्यक्षरक्षांसि राजसाः ।

प्रेतान्भूतगणांश्चान्ये यजन्ते तामसा जनाः ॥४॥

सात्त्विकजन देवताओं की, राजसजन यक्ष-राक्षसों की,
और तामसजन भूतप्रेतादिकों की पूजा करते हैं ॥४॥

अशास्त्रविहितं घोरं तप्यन्ते ये तपो जनाः ।

दम्भाहंकारसंयुक्ताः कामरागबलान्विताः ॥५॥

कर्षयन्तः शरीरस्थं भूतग्राममचेतसः ।

मां चैवान्तः शरीरस्थं तान्विद्ध्यासुरनिश्चयान् ॥६॥

दम्भ और अहंकार से युक्त, काम तथा अनुराग के वेग
से वेष्टित, शरीर में टिके हुए पंचमहाभूत और उनके
अन्तर्यामी मुझको घोर तपादि द्वारा क्लेश देते हुए जो
मूढ़ जन शास्त्रविरुद्ध घोर तप करते हैं, उनका असुरोंका-
सा निश्चय है, ऐसा तू जान ॥५॥ ॥६॥

आहारस्त्वपि सर्वस्य त्रिविधो भवति प्रियः ।

यज्ञस्तपस्तथा दानं तेषां भेदमिमं शृणु । ७ ।

प्रत्येक का आहार, यज्ञ, तप और दान यह तीन-तीन

प्रकार का होता है. उनके इस भेद को सुन ॥७॥

आयुःसत्त्वबलारोग्य-सुखप्रीतिविवर्धनाः ।

रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्त्विकप्रियाः

॥८॥

आयु बल, उत्साह, पराक्रम, आरोग्य, सुख और प्रीति बढ़ाने वाले, रसयुक्त, स्निग्ध चिरकाल तक शरीर में बल को देने वाले, आनन्दकारक आहार सात्त्विक जनों को प्रिय होते हैं ॥८॥

कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः ।

आहारा राजसस्येष्टा बु खशोकामयप्रदाः ॥९॥

कटु (कड़वे), अम्ल (खट्टे), लवण (खारे), अत्यन्त गरम, तीक्ष्ण (तीखे), रूखे, और उदर में दाह करने वाले, दुःख शोक और रोग को देने वाले आहार राजस जनों को इष्ट होते हैं ॥९॥

यातयामं गतरसं पूति पयुषितं च यत् ।

उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम् ॥१०॥

वासी, नीरस, दुर्गन्धयुक्त उच्छिष्ट (जूठा), अपवित्र भोजन तामसजन को प्यारा होता है ॥१०॥

अफलाकाङ्क्षभिर्यज्ञो विधिदृष्टो य इज्यते ।

यष्टव्यमेवेति मनः समाधाय न सात्त्विकः ॥११॥

अवश्य यज्ञ करना है, या में ऐसा धारण करके फल की इच्छा न करते विधिपूर्वक जो यज्ञ किया जाता है वह सात्त्विक है ॥११॥

अभिसंधाय तु फलं दम्भार्थमपि चैव यत् ।

इज्यते भरतश्रेष्ठ तं यज्ञं विद्धि राजसम् ॥१२॥

हे भरतश्रेष्ठ, किसी प्रकार के फल की इच्छा से और दम्भ अपने महत्त्व स्थापना के लिए, जो यज्ञ किया जाता है उसे राजस जान ॥१२॥

विधिहीनममृष्टान्नं मन्त्रहीनपदक्षिणम् ।

श्रद्धाविरहितं यज्ञं तामसं परिचक्षते ॥१३॥

सास्त्रोक्त विधि से हीन, अनदान से रहित, मन्त्रहीन और श्रद्धा से रहित यज्ञ को तामसयज्ञ कहते हैं ॥१३॥

वेदद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचभार्जवम् ।

ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते ॥१४॥

देवता, ब्राह्मण, गुरु और बुद्धिमान् इत्यादि पूजन, पवि-

नत, सरलता, ब्रह्मचर्य और अहिंसा, यह शारीरिक तप कहा जाता है ॥१४॥

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत् ।

स्वाध्यायाम्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते ॥१५॥

किसी के मन को उद्वेग न देने वाला सत्य, प्रिय हितकर भाषण, और सद्बिद्याओं का अभ्यास यह वाचिक (वाणी में उत्पन्न होने वाला) तप कहा जाता है ॥१५॥

मनःप्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः ।

भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते ॥१६॥

मन की प्रसन्नता, सौम्यता मननशीलता विषयों से मन को रोकना और निष्कपट रहना यह मानसिक तप कहा जाता है ॥१६॥

अध्वया परया तप्तं तपस्तत्त्रिविधं नरैः ।

अफलाकांक्षिमयुक्तैः सात्त्विकं परिचक्षते ॥१७॥

फल की इच्छा न करने वाले स्थिरचित्त, मनुष्यों द्वारा अध्यापूर्वक किया हुआ तीन प्रकार के (कायिक, वाचिक, मानसिक) तप को सात्त्विक तप कहते हैं ॥१७॥

सत्कारमानपूजार्थं तपो दंभेन चैव यत् ।

क्रियते तदिह प्रोक्तं राजसं चलम ध्रुवम् ॥१८॥

१६०

जो तप अपने सत्कार, मान और पूजन के लिए दम्भ से किया जाता है वह चंचल और अस्थिर राजस तप कहलाता है ॥१८॥

मूढग्राहेणात्मनो यत्पीडया क्रियते तपः ।

परस्योत्सादनार्थं वा तत्तामसमुवाहृतम् ॥१९॥

जो दुराग्रह से, आत्मा को पीड़ा देकर व दूसरे के नाश के अर्थ से तप किया जाता है वह तामस तप कहलाता है ॥१९॥

दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे ।

वेशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्त्विकं स्मृतम् ॥२०॥
अवश्य देना है इस विचार से जो अनुपकारी को देश, काल और पात्र का विचार करके दिया जाता है, वह सात्त्विक दान कहा जाता है ॥२०॥

यत् प्रत्युपकारार्थं फलमुद्दिश्य वा दत्तम् ।

दीयते च परिक्लिष्टं तद्दानं राजसं स्मृतम् ॥२१॥
जो दान प्रत्युपकार की इच्छा से, अथवा किसी भांति के फल की इच्छा से, बलेशपूर्वक दिया जाता है वह राजस दान कहा जाता है ॥२१॥

अवेशकाले यद्दानमपात्रेभ्यश्च दीयते ।

असत्कृतमवज्ञातं तत्तामसमुदाहृतम् ॥२२॥

अयोग्य स्थल, अयोग्य समय में, अयोग्य पुरुषों को असत्कार और अनादरपूर्वक जो दान दिया जाता है वह तामस कहाता है ॥२२॥

ओं तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः ।

ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताः पुरा ॥२३॥

ओम् तत्, सत् ये तीन प्रकार के नाम ब्रह्म के कहे हैं और इनके द्वारा ब्राह्मण, वेद और यज्ञ सर्वप्रथम बनाये गये हैं ॥२३॥

तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञदानतपःक्रियाः ।

प्रवर्तन्ते विधानोक्ताः सततं ब्रह्मवादिनाम् ॥२४॥

इसलिए 'ओम्' उच्चारण करके ब्रह्मवादी शास्त्रोक्त यज्ञ, दान आदि रूप क्रियाओं को करते हैं ॥२४॥

तदित्यनभिसंधाय फलं यज्ञतपः क्रियाः ।

दानक्रियाश्च विविधाः क्रियन्ते मोक्षकांक्षिभिः ॥२५॥

मोक्ष की इच्छा करने वाले पुरुष किसी फल की अभि-
लाषा न करके 'तत्' ऐसा उच्चारण कर यज्ञ, तप और दान आदि अनेक क्रिया करते हैं ॥२५॥

सद्भावे सावुभावे च सवित्येतत्प्रयुज्यते ।

प्रशस्ते कर्मणि तथा सच्छब्दः पार्थ युज्यते ॥२६॥

'सत्' अर्थात् 'है' शब्द के अर्थ में, उत्तमपुन में प्रयुक्त है ।
हे पार्थ, मांसेक कर्म में 'सत्' शब्द कहा जाता है
॥२६॥

यज्ञे तपसि दाने च स्थितिः सविति चोच्यते ।

कर्म चैव तदर्थीयं सदित्येवाभिधीयते ॥२७॥

यज्ञ, तप, दान, इनमें जो स्थिति वह 'सत्' कही जाती
है । और इनके निमित्त किया हुआ कर्म भी 'सत्'
(सत्कर्म) कहा जाता है ॥२७॥

अश्रद्धया हुतं दत्तं उपस्तप्तं कृतं च यत् ।

असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह ॥२८॥

हे पार्थ, अश्रद्धासे किया हुआ यज्ञ, दान तप कर्म असत्
कहा जाता है । उसका इस लोक वा परलोक में कोई
उपयोग नहीं है ॥२८॥

इति श्रीभद्रगवद्गीता० श्रद्धानयविभागयोगो नाम

सप्तदशोऽध्यायः ॥१७॥

अष्टादशी अध्यायः संन्यास योग

अर्जुन उवाच ।

संन्यासस्य महाबाहो तत्त्वमिच्छामि वेदितुम् ।

त्यागस्य च हृषीकेश पृथक्केशिनिषूदन ॥१॥

अर्जुन बोला—हे महाबाहो, हृषीकेश, केशीको मारने वाले, मैं आपसे संन्यास और त्याग के स्वरूप को अलग-अलग जानने की इच्छा करता हूँ ॥१॥

श्रीभगवानुवाच

काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः ।

सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः ॥२॥

श्रीभगवान् बोले—काम्यकर्मों के न्यास (छोड़ने) को पण्डितजन संन्यास जानते हैं । और विचक्षण (निपुण) लोग सारे कर्मों के फलों का परित्याग करते हैं ॥२॥

त्याज्यं दोषवदित्येके कर्म प्राहुर्मनीषिणः ।

यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यमिति चापरे ॥३॥

अनेक पण्डित जन यह कहते हैं कि केवल दोषयुक्त कर्म त्याग करने के योग्य है और कोई यह कहते हैं कि यज्ञ, दान, तप, संबंधी कर्म छोड़ने के योग्य नहीं हैं ॥३॥

निश्चयं शुभं मे तत्र त्यागे भरतसत्तम ।

त्यागो हि पुरुषव्याघ्र त्रिविधः संप्रकीर्तितः । ४॥

हे भरतश्रेष्ठ, त्याग के त्रिविध में जो मेरा निश्चय है, वह सुन । हे पुरुषश्रेष्ठ, वह त्याग तीन भांति का कहा हुआ है ॥४॥

यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत् ।

यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् ॥५॥

यज्ञ, दान, तप संबंधित कर्म, त्याग करने के योग्य नहीं है, अपितु आचरण के योग्य हैं । यज्ञ दान और तप, ये विवेकी पुरुषों के मन को पवित्र करने वाले हैं । ५

एतान्यपि तु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च ।

कर्तव्यानीति मं पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम् ॥६॥

परन्तु हे पार्थ, ये सब कर्म भी आसक्ति और फल की इच्छा के विना, करने के योग्य हैं ऐसा मेरा निश्चित मत है ॥६॥

नियतस्य तु संन्यासः कर्मणो नोपपद्यते ।

साहचर्यं न हि प्राणस्तानसः परिकीर्तितः ॥७॥

प्रपन्न निवर्तित कर्मों का संन्यास (परित्याग) नहीं हो

सकता, **Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.** उसको परित्याग कर दिया जाय, तो वह तामस त्याग कहाता है ॥७॥

दुःखमित्येव यत्कर्म कायक्लेशभयात्प्रजते ।

स कृत्वा राजसं त्यागं नैव त्यागफलं लभेत् ॥८॥

कर्म दुःखप्रद है, इस विचार से जो शरीर-क्लेश के भय से कर्म को छोड़ता है, उस कर्म-त्याग से कुछ फल नहीं होता, और वह त्याग राजस है ॥८॥

कार्यमित्येव यत्कर्म नियतं क्रियतेऽर्जुन ।

संगं त्वक्त्वा फलं चैव स त्यागः सात्त्विको मतः ॥९॥

अर्जुन, अपना नियमित कर्म अवश्य कर आसक्ति और अपनी इच्छा को छोड़ जो कर्म किया जाता है, वह सात्त्विक त्याग करता है ॥९॥

न द्वेष्ट्यकुशलं कर्म कुशले नानुषज्जते ।

त्यागी सत्त्वसमाविष्टो मेधावी छिन्नसंशयः ॥१०॥

सत्त्वनिष्ठ विवेकी पुरुष दुःखप्रद कर्म में द्वेष और प्रद में अनुराग नहीं रखता, वह मुक्तसंशय और त्यागी ॥१०॥

नहि देहभूता शक्यं श्यक्तुं कर्मण्यशेषतः ।

यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते ॥११॥

देहधारी संपूर्ण कर्म छोड़ने में समर्थ नहीं है, इसलिए त्यागी वह है जिसने कर्मफल को छोड़ दिया है ॥११॥

अनिष्टमिष्टं मिश्रं च त्रिविधं कर्मणः फलम् ।

भवत्यत्यागिनां प्रेत्य न तू संन्यासिनां भवचित ॥१२॥

सुखात्मक, दुःखात्मक तथा सुखदुःखात्मक ये तीन प्रकार के कर्मफल हैं, वे केवल सकामी पुरुषों को मरण के अनन्तर होते हैं, परन्तु संन्यासियों को कभी नहीं होते ॥१२॥

पञ्चैतानि महाबाहो कारणानि निबोध मे ।

सांख्ये कृतान्ते प्रोक्तानि सिद्धये सर्वकर्मणाम् ॥१३॥

हे महाबाहों, सांख्यसिद्धान्त में संपूर्ण कर्मों की सिद्धि के निमित्त पांच कारण कहे हुए हैं, उनको मुझसे जान ॥१३॥

अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम् ।

विविधाश्च पृथक्चेष्टा देवं चैवात्र पञ्चमम् ॥१४॥

अधिष्ठान अर्थात् इच्छा द्वेष सुख दुःख का आश्रय शरीर उसका कर्ता 'अहंकार' अनेक कारण अर्थात् नेत्र, क

आदि इन्द्रियां, विविध प्रकार की चेष्टा (प्राण, अपान आदिकों के व्यापार) और पाँचवाँ, कारण देव अर्थात् सर्वप्रेरक है ॥१४॥

शरीरबाध्, मनोभिर्यत्कर्म प्रारभते नरः

न्याय्यं वा विपरीतं वा पञ्चैते तस्य हेतवः ॥१५॥

मनुष्य शरीर, वाणी, मन द्वारा उत्तम व अधम जो कुछ कर्म करता है उसके ये पाँच कारण हैं ॥१५॥

तत्रैवं सति कर्तारिमात्मानं केवलं तु यः ।

पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्मतिः ॥१६॥

ऐसा होने पर भी जो संस्कारहीन बुद्धि के कारण केवल आत्मा ही को कर्ता जानता है, वह दुर्मति कुछ नहीं देखता ॥१६॥

यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते ।

हत्वापि स इमांल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते ॥१७॥

‘यह कर्म करता हूँ’ जिसके ऐसी बुद्धि नहीं है, और उसकी बुद्धि भले-बुरे कर्मों में आसक्त नहीं है, वह जिनको मार कर भी उन्हें नहीं मारता और न पापों बढ़ होता है ॥१७॥

१६८

गीता

ज्ञानं ज्ञेयं परिज्ञाता त्रिविधाः कर्मस्वीदना ।

करणं कर्म वर्तेति त्रिविधः कर्मसंग्रहः ॥१८॥

कर्म की प्रवृत्ति में ज्ञान, ज्ञेय और परिज्ञाता ये तीन कारण हैं । कारण (साधक) कर्म का दृष्ट और वर्ता अर्थात् क्रिया करने वाला यह तीन क्रिया के वाशक है । ॥१८॥

ज्ञानं कर्म च कर्ता च त्रिष्वेव गुणभेदतः ।

प्रोच्यते गुणसंख्याने यथावच्छृणु तान्यपि ॥१९॥

सांख्यशास्त्र में ज्ञान, कर्म और कर्ता ये सत्त्वादिक गुणों के भेद से तीन प्रकार से कहे जाते हैं, उन्हें भी यथाशास्त्र सुन ॥१९॥

सर्वभूतेषु येनैकं भावमध्ययमीक्षते ।

अविभक्त विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम् ॥२०॥

पुरुष जिस ज्ञान द्वारा स्थावर आदि भिन्न-भिन्न प्राणियों में एक अभिन्न त्रिविकार भाव अर्थात् आत्मतत्त्व रूप परमात्मा को देखता है उसको सात्त्विक

ज्ञान ॥२०॥

पृथक्त्वेन तु यज्ज्ञानं नानाभावान्पृथग्विधान् ।

वेत्ति सर्वेषु भूतेषु तज्ज्ञानं विद्धि राजसम् ॥२१॥

जिस ज्ञान द्वारा न्यारे-न्यारे सारे भूतों (प्राणिनों) में पृथक्-पृथक् भावों का देखना हो, उसको राजस ज्ञान जान ॥२१॥

यत्तु कृत्स्नवदेकस्मिन्कार्ये सक्तमहैतकम् ।

अतत्त्वार्थवदत्तं च तत्तामसमुवाहृतम् ॥२२॥

जिस ज्ञान द्वारा किसी वस्तु में जो ईश्वर-रूप मान लेना और इसका प्रमाण रहित, असत्य और तुच्छ ज्ञान का आग्रह किया जाए उसे तामस ज्ञान कहते हैं ॥२२॥

नियतं सङ्गरहितभरागद्वेषतः कृतम् ।

अफलप्रेप्सुना कर्म यत्तत्सात्त्विकमुच्यते ॥२३॥

जो कर्म आसक्ति और राग द्वेष छोड़ फल की इच्छा न करके नित्य नियम से किया जाता है, वह सात्त्विक कर्म कहलाता है ॥२३॥

यत्तु कामप्रेप्सुना कर्म साहंकारेण वा पुनः ।

क्रियते बहुलायासं तद्राजसमुवाहृतम् ॥२४॥

जो कर्म किसी कामना से अथवा अहंकार से अति श्लेश-पूर्वक किया जाता है वह राजस कर्म कहलाता है ॥२४॥

गीता

२००

अनुबन्धं क्षयं हिंसात्मनोऽप्येव च पीड्यम् ।

मोहादारभ्यते कर्म तत्तामसमुदाहृतम् ॥२५॥

जो शुभः शुभ, धननाश, दूसरे की पीडा, और अपनी
सामर्थ्य को न जानकर अज्ञान से किया जाता है; वह
तामस कर्म कहा गया है ॥२५॥

मुक्तसङ्गोऽनहंवादी धृत्युत्साहसमन्वितः ।

सिद्धिर्द्धिर्लोनिविकारः कर्ता सात्त्विक उच्यते ॥२६॥

मुक्तसङ्ग जो कर्म में आवृत्ति रहित है अहंकार-विहीन
धैर्य तथा उत्साह से युक्त, कर्मफल की सफलता और
असफलता में हर्ष या शोक से रहित है वह सात्त्विक कर्ता
कहा जाता है ॥२६॥

रागी धर्मफलप्रप्सुर्लुब्धो हिंसात्मकोऽशुचिः ।

हर्षशोकान्वितः कर्ता राजसः परिकीर्तितः ॥२७॥

रागयुक्त कर्म-फल का अभिलाषी, लोभी, हिंसक, अप-
वित्र और हर्ष तथा शोकयुक्त कर्ता राजस कहा गया
है ॥२७॥

अयुक्तः प्राकृतः स्तब्धः शठो नेष्टकृतिकोऽलसः ।

विषादी दीर्घसूत्री च कर्ता तामस उच्यते ॥२८॥

अयोग्य, विवेकशून्य, अनम्र, शठ, पराई जीविका का छेन करने वाला, अनुचारी, विषा युक्त, और अल्पकालिक कर्म को दीर्घकाल में करने वाला कर्ता तामस कहा जाता है ॥२८॥

बुद्धेर्भेदं धृतेश्चैव गुणतस्त्रिविधं शृणु ।

प्रोच्य तानमशेषेण पृथक्त्वेन धनंजय ॥२९॥

हे धनंजय, सत्त्वादिक गुणों से तीन प्रकार के बुद्धि और धर्म के भेद को अलग-अलग मुझ से सुन ॥२९॥

प्रवृत्ति च निवृत्ति च कार्याकार्ये भयाभये ।

यच्च मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी ॥३०॥

हे पार्थ, जिस बुद्धि से मनुष्य धर्म में प्रवृत्ति, अधर्म से निवृत्ति, कार्य, अकार्य, भय, अभय, मोक्ष को जानता है वह सात्त्विकी बुद्धि है ॥३०॥

यथा धर्ममधर्मं च कार्यं चाकार्यमेव च ।

अथवावत्प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ राजसी ॥३१॥

हे पार्थ, जिस बुद्धि से धर्म, अधर्म, कर्तव्य, अकर्तव्य, क्या करना, क्या न करना ये बातें यथावत् नहीं जानती वह राजसी बुद्धि है ॥३१॥

गीता

२०२

अधमं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता ।

सर्वार्थान्विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी ॥३२॥

हे पार्थ, जिस अज्ञानवेष्टित बुद्धि द्वारा मनुष्य अधम को धर्म और सारे हित को अहित मानता है वह तामसी बुद्धि है ॥३२॥

धृत्या यया धार्यते मनःप्राणेन्द्रियक्रियाः ।

योगेनाव्यभिचारिण्या धृतिः सा पार्थ सात्त्विकी ॥३३॥

हे पार्थ, चित्त की एकाग्रता से अन्य की वस्तु के प्रति चाह-अनचाह-पनरूपी धृति के द्वारा मन, प्राण और इन्द्रियों की क्रिया भलीभांति चलती है, वह सात्त्विकी धृति (मन की धारणा) है ॥३३॥

यया तु धर्मकामार्थान्धृत्या धारयतेऽर्जुन ।

प्रसङ्गेन फलाकांक्षी धृतिः सा पार्थ राजसी ॥३४॥

हे अर्जुन, जिसके द्वारा मनुष्य धर्म, अर्थ और काम सेवन करता है, और अवसर पर फल का अभिलाषी होता है, हे पार्थ, वह धृति राजसी है ॥३४॥

यया स्वप्नं भयं शोकं विषादं मदमेव च ।

तमोऽव्यभिचारिण्यधृत्या धृतिः सा पार्थ तामसी ॥३५॥

अध्याय १८

२०३

हे पायं, जिस वृत्ति से मनुष्य निद्रा, भय, शोक, विषाद और उन्माद नहीं छोड़ता, वह तामसी वृत्ति है ॥३५॥

सुखं त्रिदानीं त्रिविधं शृणु मे भरतर्षभ ।

अभ्यासाद्रमते यत्र दुःखान्तं च निगच्छति ॥३६॥

हे भरतश्रेष्ठ, अब तीन प्रकार के सुख मुझ से सुन, जिस के परिचय से प्रीति होती है और जिसमें टिकने से दुःख नष्ट हो जाते हैं ॥३६॥

यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम् ।

तत्सुखं सात्त्विकं प्रोक्तमात्मबुद्धिप्रसादजम् ॥३७॥

जो सुख आरम्भ में विष के तुल्य कटु, परंतु अन्त में आत्मविवार की प्रसन्नता से उत्पन्न अमृत के सदृश मीठा लगता है वह सात्त्विक कहलाता है ॥३७॥

विषयेन्द्रियसंयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम् ।

परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम् ॥३८॥

जो सुख विषय और इंद्रियों के संयोग से उत्पन्न होता है और आरम्भ में अमृत के तुल्य मीठा, परंतु अन्त में विष के तुल्य कड़वा, वह राजस कहलाता है ॥३८॥

यदग्रे चानुबन्धे च सुखं मोहनसात्मनः ।

निद्रालस्यप्रमादोत्थं तत्तामसमुदाहृतम् ॥३६॥

जो सुख आरम्भ तथा अन्त में चित्त को मोहित करता है; और निद्रा, आलस्य तथा प्रमाद से उत्पन्न होने वाला है, वह तामस कहलाता है ॥३६॥

न तवस्ति पृथिव्यां वा विवि देशेषु वा पुनः ।

सत्त्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिः स्यात्त्रिभिर्गुणैः ॥३७॥

ऐसा कोई प्राणी भूमि आकाश अथवा देवलोक में नहीं है जो कि इन प्रकृति से उत्पन्न होने वाले तानों गुणों से मुक्त अर्थात् अलग हो ॥३७॥

ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परतप ।

कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवर्गुणैः ॥३८॥

हे परतप, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन के स्वभाव से उत्पन्न गुणों के अनुसार भिन्न-भिन्न कर्म हैं ॥३८॥

शमो दमस्तपः शौच क्षान्तिराजैवमेव च ।

ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम् ॥३९॥

शम (चित्त की स्थिरता), दम (बाह्य के इन्द्रियों को नियंत्रण), तप (अभ्यास), शौच (बाह्य और भीतर की शुद्धि)

क्षमा, सोचापन, ज्ञान, विज्ञान और आस्तिक्य (परलोक में श्रद्धा) यह ब्राह्मण के स्वाभाविक कर्म हैं ॥४२॥

शौर्य तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम् ।

रानधीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम् ॥४३॥

शौर्य, साहस, वैर्य, निपुणता, युद्ध में स्थिर होना, उदार-पन और सामर्थ्य, यह क्षत्रिय का स्वाभाविक कर्म है ॥४३॥

कृषिगोरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम् ।

परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम् ॥४४॥

कृषि, गो-रक्षा, वाणिज्य यह वैश्य का स्वाभाविक कर्म है । और परिचर्या अर्थात् भलीभांति सेवा करना, यह शूद्र का स्वाभाविक कर्म है ॥४४॥

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः ।

स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विन्दति तच्छूणु ॥४५॥

अपने अपने कर्म में तत्पर मनुष्य उत्तम सिद्धि को पाता है । निजकर्म में प्रवृत्त होने वाला कितना भाति सिद्धि को प्राप्त होता है, वह उपाय सुन ॥४५॥

यतः प्रवृत्तिभूतानां येन सर्वमिदं ततम् ।

स्वकर्मणा तदभावे सिद्धिं विन्दते पातकः ॥४६॥

उस सर्वान्तर्गामी परमेश्वर की जिससे सारे भूतों की उत्पत्ति हुई और उसके सामर्थ्य से यह सारा जगत् चल रहा है अपने कर्म द्वारा आराधना करके मनुष्य श्रीष्ठ सिद्धि को पाता है ॥४६॥

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्

स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ॥४७॥

अपना धर्म दोषयुक्त होने पर भी पराये धर्म की अपेक्षा अत्यन्त श्रेष्ठ है, क्योंकि स्वाभाविक कर्म करता हुआ मनुष्य पाप को नहीं पाता ॥४७॥

सहजं कर्म कोन्तेय सर्वोषमपि न त्यजेत् ।

सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः ॥४८॥

हे कीर्तेय, दोषयुक्त भी स्वाभाविक कर्म को न छोड़े, क्योंकि सभी कर्म दोष से उसी प्रकार आच्छादित हैं जैसे अग्नि धुएँ से ॥४८॥

प्रसवतवृद्धिः सर्वत्र जितात्मा विगतस्पृहः ।

नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां संन्यासेनाधिगच्छति ॥४९॥

सर्वत्र आश्रित को छोड़ने वाला निरहंकारी फलेच्छा रहित, संन्यास (कर्मफल के त्याग) से सर्वकर्म निवृत्ति वाला उत्तम सिद्धि को पाता है ॥४९॥

समासेनैव कौन्तेय निष्ठा ज्ञानस्य या परा ॥५०॥

हे कौन्तेय ! इस सिद्धि को प्राप्त हुआ मनुष्य जिस भांति ब्रह्म को जानता है वह संक्षेप से मुझसे जान, जो इस ज्ञान की सर्वोत्कृष्ट भयादा है ॥५०॥

बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो घृत्यात्मानं निगम्य च ।

शब्दादीन्विषयांस्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च ॥५१॥

विनिवृत्तसेवो लब्धाशी यतवाक्कायमानसः ।

ध्यानयोगपरो नित्यं वंराग्यं समुपाश्रितः ॥५२॥

अहंकार बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम् ।

विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥५३॥

जो मनुष्य अत्यन्त शुद्ध बुद्धि युक्त, धैर्य द्वारा निज मन को शोक, शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध इन विषयों को छोड़ राग-द्वेष का त्याग कर, एकान्त और पवित्र देश निवास ले, अल्पभोजी हो, शरीर, वाणी और मन को अपने वश कर, ध्यान अर्थात् आत्मस्वरूप का चिन्तन की एकाग्रता इन दोनों में तत्पर, विषयों से वंराग्य प्राप्त अहंकार, दुराग्रह, दर्प, काम, क्रोध और संचय-

वृत्ति का त्यागी, ममता रहित शान्त मनुष्य मैं ब्रह्म हूँ
ऐसे भाव को प्राप्त होता है ॥५१॥ ॥५२॥ ॥५३॥

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मः न शोचति न कांक्षति ।

समः सर्वेषु भूनेषु सद्भवित लभते पराम् ॥५४॥

सारे भूतों में समबुद्धि रखने वाला, ब्रह्म को प्राप्त हुआ
वह प्रसन्नचित्त किसी प्रकार के शोक वा अभिलाषा को
नहीं करता, और मुझमें परमभवित को पाता है ॥५४॥

भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः ।

ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम् ॥५५॥

वह भक्ति करने यथार्थ मुझको जानता है कि जिस भाँति
मैं हूँ । और मुझको गली भाँति जानकर मुझ में प्रवेश
करता है, अर्थात् मेरा रूप होता है ॥५५॥

सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मन्त्रपाश्र्वयः ।

मत्प्रसादवाप्नोति शाश्वतं पदसव्ययम् ॥५६॥

सदा सारे कर्मों को करता हुआ मेरा आश्रित मनुष्य मेरी
प्रसन्नता से अविनाशी और अनादि परम पद को पाता
है ॥५६॥

चेतसां सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य मत्परः ।

बुद्धियोगमुपाश्रित्व अचिन्तः सततं भव ॥५७॥

मन से सारे कर्मों को मेरे समर्पण करके मुझ ही सर्वस्व मान निश्चयात्मक बुद्धि के योग अर्थात् एकाग्रता को प्राप्त होकर सर्वदा मुझ में चित्त दे ॥५७॥

अचिन्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि ।

अथ चेत्त्वामहंकारान्न श्रोष्यसि विनश्यसि ॥५८॥

मेरे विषय में चित्तवृत्ति देकर तू मेरे अनुग्रह से सारे दुःखों से तर जाएगा । यदि अहंकार से मेरे उपदेश को नहीं सुनेगा, तो विनाश को प्राप्त होगा ॥५८॥

यदहंकारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे ।

मिथ्यैव व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां निषोक्ष्यति ॥५९॥

यदि अहंकार को प्राप्त होकर 'मैं युद्ध नहीं करूंगा' ऐसा तू मानता है तो वह तेरा मिथ्या विचार है, क्योंकि रजो-

गुणात्मक प्रकृति (जाति-स्वभाव) तुझको युद्ध में प्रवृत्त करेगी ॥५९॥

स्वभावजेन शीतेय निबद्धः स्वेन कर्मणा ।

कतु नेच्छसि यन्मोहात्करिष्यस्यवशोऽपि तत् ॥६०॥

कोन्तेय, स्वभाव सिद्ध निजकर्म से बंधा हुआ तू अज्ञान से जो कर्म नहीं करना चाहता है, उसे परवश होकर करेगा ॥६०॥

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ।

भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥६१॥

हे अर्जुन, ईश्वर अपनी माया (लघु शक्ति) द्वारा देहा-भिमानि प्राणियों को अपने-अपने कर्मों में नियुक्त करता हुआ सम्पूर्ण भौतिक तत्त्व युक्त जीवों में निवास करता है ॥६१॥

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत ।

तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम् ॥६२॥

हे भारत सब प्रकार से उस परमेश्वर के शरण को तू जा, तू उसके प्रसाद से परम शान्ति और शाश्वत पद को पायेगा ॥६२॥

इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद्गुह्यतरं मया ।

विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु ॥६३॥

इस भांति यह अत्यन्त गुप्तज्ञान तुझको मैंने कहा, इसी पर तू भली भांति विचार करके जैसी तेरी इच्छा हो वैसा कर ॥६३॥

सर्वगुह्यं भूयः शृणु मे परमं वचः ।

इष्टोऽसि मे बृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम् ॥६४॥

किर भी, सबसे अत्यन्त गुप्त इस मेरे उत्तम वचन को
 न, क्योंकि तू मेरा बड़ा प्रिय है इस लिए तेरे हित के
 लिए कहता हूं ॥६४॥

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुश ।

मामेवेष्यासि सत्यं ते प्रतिजाने प्रिगोऽसि मे ॥६५॥

मे में मन लगा, मेरा भक्त हो, मेरी पूजा कर, मुझे
 नमस्कार कर, मैं प्रतिज्ञा करता हू कि तू मुझको प्राप्त
 होगा, तू मुझे प्यारा है ॥६५॥

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।

अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥६६॥

मेरे कर्मों को छोड़कर एक मेरी शरण को तू आ, मैं
 तुझको सम्पूर्ण पापों से मुक्त करूंगा, किसी भांति का
 क न कर ॥६६॥

इव ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन ।

न चाशुश्रूषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यसूयति ॥६७॥

निज धर्म के वाचरण से शून्य है, ईश्वर तथा गुरु

का भवत नहीं है, उपदेश की इच्छा नहीं रखता है, अथवा मेरी निन्दा करता है, यह ज्ञान उससे कदापि कहने योग्य नहीं है ॥६७॥

य इदं परमं गुह्यं सद्भवतेष्वभिधास्यति ।

भक्ति मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः ॥६८॥

जो मुझ में भक्ति करके मेरे भक्तजनों से इस परम गुप्त ज्ञान को कहेगा वह निःसंदेह मुझको ही प्राप्त होगा ॥६८॥

न च तस्मान्मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः ।

भविता न च मे तस्मादन्यः प्रियतरो भुवि ॥६९॥

मेरे कहे हुए उपदेश को सुनने वाले भक्त से अधिक और कोई मेरा प्रिय मनुष्यों में नहीं है और न दूसरा कोई प्रिय इस लोक में उत्पन्न होगा ॥६९॥

अप्येव्यते च य इमं धर्म्यं संवादमावयोः ।

ज्ञानयज्ञेन तेनाहमिष्टः स्यामिति मे मतिः ॥७०॥

जो इस धर्मयुक्त हमारे तुम्हारे संवाद को पढ़ेगा, उसने जाव रूप यज्ञ करके मेरी पूजा की, ऐसा मैं मानता हूँ

॥७०॥

सोऽपि मुक्तः शुभात्मोक्तप्रवृत्तपुण्यकर्मणाम् ॥७१॥
 जो मनुष्य श्रद्धायुक्त होकर दोषदृष्टि को छोड़ इस गीता

शास्त्र को सुने वह भी सब पापों से मुक्त होकर पुण्य कर्म
 करने वालों के उत्तम लोकों को प्राप्त होता है ॥७१॥

कच्चिदेतच्छ्रुतं पार्थ त्वयं काग्रोण चेतसा ।

कच्चिदज्ञानसंमोहः प्रनष्टस्ते धनंजय ॥७२॥

हे पार्थ ! तूने एकाग्र चित्त से इस मेरे कहे हुए उपदेश
 को क्या सुना ? हे धनंजय, तेरा अज्ञान से उत्पन्न मोह
 क्या नष्ट हुआ, अथवा नहीं ? ॥७२॥

अर्जुन उवाच

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत ।

स्थितोऽस्मि गतसंदेहः करिष्ये वचनं तव ॥७३॥

न बोला—हे अच्युत, तुम्हारे अनुग्रह से मेरा मोह
 आ, और स्मृति प्राप्त हुई, निःसंदेह तुम्हारी आज्ञा
 त हूँ और जो तुमने कहा वही करूँगा ॥७३॥

स जय उवाच ।

वायुदेवस्य पार्थस्य च मातृत्मनः ।

श्रीषमस्तु ते रोहषणम् ॥७४॥

संजय बोला — इस भांति रोमांच करने वाले, वासुदेव और अर्जुन इन दोनों महात्माओं के अद्भुत संवाद को मैंने सुना ॥७४॥

व्यासप्रसादाच्छ्रुत्वानेतद्गुह्यमहं परम् ।

योगं योगेश्वरात्कृष्णात्पाक्षात्कथयतः स्वयम् ॥७५॥
स्वयं योग को कहते हुए योगेश्वर श्रीकृष्ण से इस परम गुह्य संवाद को व्यास की कृपा से प्रत्यक्ष मैंने सुना ॥७५॥

राजन्संस्मृत्य संस्मृत्य संवावमिममद्भुतम् ।

केशावार्जुनयोः पुण्यं हृष्यामि च मुहुर्मुहुः ॥७६॥

हे राजन्, इस अद्भुत पुण्य, श्रीकृष्ण और अर्जुन के संवाद को स्मरण कर-कर मैं बार-बार हर्षित होता हूँ ॥७६॥

तच्च संस्मृत्य संस्मृत्य रूपमत्यद्भुतं हरेः ।

विस्मयो मे महान् राजन् हृष्यामि च पुनः पुनः ॥७७॥

हे राजन्, श्रीकृष्ण के उस अद्भुत रूप को स्मरण कर मुझको बड़ा ही आश्चर्य होता है और बार-बार परमानन्द की प्राप्ति होता हूँ ॥७७॥

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः ।

तत्र श्रीविजयो भूतिध्रुवा नीतिर्मतिर्मम ॥७८॥

मुझको निश्चय है कि जिस पक्ष में योगेश्वर श्रीकृष्ण और जहाँ धनुर्धर अर्जुन है, वहाँ पर राज्यलक्ष्मी, विजय उत्तरोत्तर ऐश्वर्य और निश्चय नीति है यह मेरी नीति है ॥७८॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सुब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे

श्रीकृष्णार्जुनसंवादे संन्यास योगो नामाष्टा-

दशोऽध्यायः ॥१८॥

